अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका – जून २०१६

अग्निशिखा जून २०१६ वर्ष ४६, अंक ११, पूर्णांक ५५०

विषय-सूची

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

(श्रीअरविन्द के वचन)

सन्देश	३
श्रद्धा का शुभ सन्देश	५
श्रद्धा की प्रकृति	११
श्रद्धा तथा शंका	१८
श्रद्धा तथा योग	२४

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३८
एक साधक के साथ श्रीमां का पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	४१
खोज (कविता)	चन्दन	४५
दु:ख-दर्द को पोसो मत	रवीन्द्रजी	४८
कम्बल ही सर्वस्व था	नरेन्द्र विद्यावाचस्पति	५१
वे हलका-सा मुस्कुरा दिये...	वन्दना	५२

अग्निशिखा का वार्षिक शुल्क :
एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पांच वर्ष—८६०रु.।
पत्रिका हर महीने की ४ तारीख को प्रेषित की जाती है।

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
Website : www.aurosociety.org

सम्पादिका : वन्दना
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

सन्देश

संकट के क्षणों में भागवत सुरक्षा पर विश्वास रखो, उसे पुकारो; हमेशा यही श्रद्धा रखो कि भगवान् जो चाहते हैं वही सर्वोत्तम है।

—श्रीमां

सम्पादकीय टिप्पणी : श्रीमां ने एक बार आश्रम के साधक श्री चम्पकलाल से यह कहा था कि अमरता को नीचे उतारने के लिए चार स्तम्भों में से एक है श्रद्धा; अन्य तीन हैं—अभीप्सा, आराधना तथा पवित्रता। न केवल योग के लिए बल्कि दैनन्दिन जीवन के लिए भी यह आधार अनिवार्य है। दूसरी तरफ, सन्देह जीवन में बहुत बड़ा रोड़ा है, लेकिन हमें प्रश्नात्मक भावना तथा विवेक की शक्ति में भेद कर सकना चाहिये। उसी तरह, श्रद्धा और धर्म-विश्वासों तथा सहज में विश्वास करने वाली मानसिकता में भी हमें भेद कर सकना चाहिये। श्रद्धा बहुत गहरी चीज है, यह अन्तरात्मा का प्रकाश और साथ ही वह शक्ति है जो हमारी सत्ता की गहराइयों में प्रसुप्त रहती है, ऐसा प्रकाश और शक्ति है जिनके बिना न हम जीवन में और न ही योग में एक कदम भी आगे बढ़ा सकते हैं।

यह तथा अगला अंक (जुलाई) भी इसी आन्तरिक दिक्सूचक को निवेदित है जो योगरूपी जहाज को तब भी सही दिशा में आगे बढ़ाये लिये चलता है जब तर्कबुद्धि का प्रकाश असफल हो जाता और मन बाहरी रूपों और आभासी तथ्यों से अन्धा हो जाता है।

जून के अंक में केवल श्रीअरविन्द के वचन हैं, जुलाई के अंक में श्रीमां के वचनों का संकलन होगा। श्रद्धा पर इन दो पृथक् अंकों का संकलन इस 'शक्ति' की विस्मयकारी महत्ता पर जोर देने के लिए किया गया है। ये एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे को पूर्ण बनाते हैं।

'भागवत शक्ति' में अपना विश्वास जमाये रखो, अपने मन को शान्त रखो और श्रीमां की 'शक्ति' को कार्य करने दो।

CWSA खण्ड ३२, पृ. २१२ —*श्रीअरविन्द*

श्रद्धा का शुभ सन्देश

मनुष्य की अन्तरात्मा श्रद्धा से निर्मित है

... यह पुरुष, मनुष्य के अन्दर विद्यमान यह अन्तरात्मा मानों श्रद्धा की बनी हुई है, श्रद्धा का मतलब है कुछ बनने का संकल्प, अपने-आप पर तथा जगत् की सत्ता पर विश्वास। उसके अन्दर का वह संकल्प, वह श्रद्धा या मज्जागत विश्वास कोई भी क्यों न हो, वह वही है और वही वह है, *श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः*। यदि हम इस अर्थगर्भित सूक्ति पर कुछ गम्भीरता से विचार करें तो हमें पता चलेगा कि इस एक ही पंक्ति के अन्दर गिने-चुने बलपूर्ण शब्दों में आधुनिक प्रयोगवाद के सिद्धान्त की प्रायः सारी ही परिकल्पना छिपी हुई है। क्योंकि यदि मनुष्य या उसकी अन्तरात्मा अपनी अन्तस्थ श्रद्धा से बनी हुई है—श्रद्धा यहां अपने उपर्युक्त गभीरतर अर्थ में अभिप्रेत है—तो इसका यह मतलब हुआ कि वह जिस सत्य के दर्शन करता है और जिसे वह जीवन में उतारना चाहता है, उसके लिए वही अपनी सत्ता का, अपने निज स्वरूप का सत्य है; उस सत्य की सृष्टि उसी ने की है या कर रहा है और उसके लिए उसके सिवा और कोई सत्य वास्तविक नहीं हो सकता। यह सत्य उसके आन्तर और बाह्य कर्म का तथ्य है, उसकी सम्भूति का, अन्तरात्मा की क्रियाशक्ति का तथ्य है, उसके अन्दर जो वस्तु नित्य अपरिवर्तनीय है उसका तथ्य नहीं। वह आज जो कुछ भी है वह उसकी अपनी प्रकृति के किसी अतीत संकल्प के द्वारा ही गठित हुआ है। इस समय उसके अन्दर कुछ जानने, विश्वास करने तथा अपनी बुद्धि और प्राणशक्ति में वही कुछ बन उठने का जो संकल्प है वह उसके अतीत संकल्प को सम्पुष्ट करता तथा जारी रखता है। उसकी मूल सत्ता तक में यह जो संकल्प और श्रद्धा क्रियाशील है वह कोई भी नया रूप क्यों न ग्रहण करे, वह भविष्य में उसी नये रूप में परिणत होता जायेगा। हम मन और प्राण के अपने निज कर्म में सत्ता के एक अपने ही सत्य की सृष्टि करते हैं, यह इस बात को कहने का एक दूसरा तरीका है कि हम स्वयं ही अपने स्वरूप की सृष्टि करते हैं, हम स्वयं ही अपने निर्माता हैं।

CWSA खण्ड १९, पृ. ४८२

प्रत्युत्तर मिलता ही है

... भक्त भगवान् के जिस किसी प्रतीक, रूप या भाव में उन्हें भजता है, *यां यां तनुं श्रद्धया अर्चति* जैसा कि गीता में कहा है, भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और जैसी उसकी श्रद्धा होती है वैसे ही बन कर उससे मिलते हैं। सभी सच्चे धार्मिक विश्वास और साधन वास्तव में एकमेव परमेश्वर और जगदीश्वर की खोज हैं; क्योंकि भगवान् ही मनुष्य के सारे यज्ञों और तपों के एकमात्र स्वामी हैं और उसके सारे यत्न और अभीप्सा के अनन्त भोक्ता हैं। पूजा-अर्चा का प्रकार चाहे कितना ही छोटा या निम्न हो, परमेश्वर की कल्पना चाहे कितनी ही सीमित हो, आत्मोत्सर्ग का भाव, श्रद्धा-विश्वास, अपने ही अहंकार की पूजा के और जड़ प्रकृति की परिच्छिन्नता के परे पहुंचने का प्रयास चाहे कितना ही संकुचित हो, फिर भी मनुष्य की आत्मा और सर्वात्मा के बीच सम्बन्ध का कोई-न-कोई धागा बन ही जाता है और प्रत्युत्तर मिलता ही है।
CWSA खण्ड १९, पृ. ३३२

... इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये जिसे कोई भी बौद्धिक सन्देह विचलित न कर सके, *श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्,* "जिस अज्ञानी में श्रद्धा नहीं है, जो संशयात्मा है वह नाश को प्राप्त होता है; संशयात्मा के लिए न तो यह लोक है न परलोक, और न सुख।" वास्तव में यह बिलकुल सच है कि श्रद्धा-विश्वास के बिना इस जगत् में या परलोक की प्राप्ति में कोई भी निश्चित स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती; और जब कोई मनुष्य किसी सुनिश्चित आधार और वास्तविक सहारे को पकड़ पाता है तभी किसी परिमाण में लौकिक या पारलौकिक सफलता, सन्तोष और सुख को प्राप्त कर सकता है; जो मन केवल संशयग्रस्त है वह अपने-आपको शून्य में खो देता है। परन्तु फिर भी निम्नतर ज्ञान में सन्देह और अविश्वास होने का एक तात्कालिक उपयोग है; किन्तु उच्चतर ज्ञान में ये रास्ते के रोड़े हैं, क्योंकि वहां का सारा रहस्य बौद्धिक भूमिका की तरह सत्य और भ्रान्ति का सन्तुलन करना नहीं है, वहां तो स्वतःप्रकाशमान सत्य की सतत-प्रगतिशील अनुभूति होती रहती है।
CWSA खण्ड १९, पृ. २०४

श्रद्धा के बिना हम देवत्व में नहीं पनप सकते

... लेकिन श्रद्धा की आवश्यकता है; यदि श्रद्धा न हो, यदि उस तार्किक बुद्धि का ही भरोसा हो जो बाहरी तथ्यों के भरोसे चलती है और ईर्ष्या के साथ अन्त:प्रकाशित ज्ञान पर इस कारण सन्देह करती है कि वह बाह्य प्रकृति के भेदों और अपूर्णताओं के साथ मेल नहीं खाता और बुद्धि के परे की चीज मालूम होता है तथा कोई ऐसी बात बतलाता जान पड़ता है जो हमें हमारी वर्तमान अवस्था की मूलभूत विशेष बातों का ही, जैसे दु:ख, क्लेश, पाप, दोष, प्रमाद और स्खलन, अर्थात् सम्पूर्ण अशुभ का ही हमसे अतिक्रम कराती है—यदि वैसी बुद्धि का ही भरोसा है—तो उस महत्तर ज्ञान से युक्त जीवन की कोई सम्भावना नहीं है। यदि उस महत्तर सत्य और विधान पर अन्तरात्मा को श्रद्धा न हो तो उसे मृत्यु, प्रमाद और अशुभ के अधीन रह कर सामान्य मर्त्य जीवन जीने के लिए लौट आना पड़ेगा; उन परमेश्वर के स्वरूप में वह विकसित नहीं हो सकती जिनकी सत्ता को ही वह अमान्य ठहराती है। क्योंकि यह एक ऐसा सत्य है जिसे जीवन में उतारना पड़ता है, जो अन्तरात्मा के बढ़ते हुए आत्मप्रकाश में जीकर जानना पड़ता है, मन-बुद्धि के अन्धकार में तर्क से टटोल कर इसे नहीं जाना जाता।

व्यक्ति को उसी के रूप में विकसित होना होता है, वही हो जाना होता है —उसकी सत्यता परखने का एकमात्र मार्ग यही है। निम्न जीवन को पार करके ही व्यक्ति वास्तविक दिव्यात्मा बन जाता और अपने आध्यात्मिक जीवन में जी सकता है। जितने भी सत्याभास इस एक सत्य के विरोध में खड़े किये जा सकते हैं वे सब निम्न प्रकृति के रूप हैं। निम्न प्रकृति के इस अशुभ से मुक्त होना उस उच्चतर ज्ञान को ग्रहण करने से ही हो सकता है जिसमें यह सत्याभास, यह अशुभ अपने स्वरूप का अन्ततः मिथ्या होना जान लेता है, यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि यह हमारे अन्धकार की सृष्टि थी। पर इस प्रकार दिव्य प्रकृति के मुक्त भाव की ओर विकसित होने के लिए यह आवश्यक है कि हमें यह विश्वास हो जाये कि हमारी इस वर्तमान सीमित प्रकृति में भगवान् गुप्त रूप से निवास करते हैं।... हम जो कुछ पूर्ण विश्वास के साथ और अहंकार-रहित होकर मान लेते और उनके द्वारा प्रेरित होकर बनना चाहते हैं, उसे अन्तस्थ भगवान् निश्चय ही सिद्ध कर देते हैं। परन्तु पहले अहंभावापन्न मन-बुद्धि और प्राण को, अर्थात् इस समय हम जो कुछ हैं या प्रतीत होते हैं उसे इस दिव्यता-लाभ के लिए हमारे अन्दर जो अन्तस्तम गुप्त भगवत्स्वरूप है, उसकी शरण लेनी होगी।

CWSA खण्ड १९, पृ. ३०९-१०

हमारी पहली आवश्यकता है श्रद्धा

हमारी पहली आवश्यकता श्रद्धा है; क्योंकि भगवान् में, जगत् में और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि भागवत परम सत्ता में श्रद्धा के बिना अभीप्सा या समर्पण करने का कोई अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उनके बिना अभीप्सा अथवा समर्पण में कोई शक्ति ही नहीं होगी।

अगर केन्द्रीय तथा मौलिक श्रद्धा हो तो शंकाएं कोई महत्त्व नहीं रखतीं। शंकाएं आ तो सकती हैं लेकिन केन्द्रीय सत्ता में श्रद्धा की चट्टान के आगे टिक नहीं सकतीं। हो सकता है कि कुछ समय के लिए चट्टान शंका और उदासी की काई से ढक भले जाये, लेकिन अन्त में वह अविनाशी रूप में प्रकट हो जायेगी।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३४७

प्रत्येग पग पर श्रद्धा आवश्यक है

... शुरू से अन्त तक तथा प्रत्येक पग पर श्रद्धा आवश्यक है क्योंकि यह अन्तरात्मा की एक ऐसी अनुमति है जो अपेक्षित है और इस अनुमति के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकती। सर्वप्रथम, योग के मूल सत्य और तत्त्वों में हमारी श्रद्धा दृढ़ होनी चाहिये, और चाहे हमारी बुद्धि के अन्दर यह श्रद्धा आच्छन्न हो जाये, हृदय के अन्दर यह निराशा से ग्रस्त हो उठे, कामनामय प्राणिक मन के अन्दर सतत निषेध और विफलता के कारण पूर्णतया क्लान्त और समाप्त हो जाये फिर भी हमारी अन्तरतम आत्मा के अन्दर कोई ऐसी चीज अवश्य होनी चाहिये जो इसके साथ चिपकी रहे और इसकी ओर बार-बार लौट आये, अन्यथा हम मार्ग पर गिर सकते हैं अथवा दुर्बलतावश एवं अल्पकालिक पराजय, निराशा, कठिनाई और संकट को सहने में असमर्थ होने के कारण मार्ग को त्याग भी सकते हैं। जीवन की भांति योग में भी वही मनुष्य, जो प्रत्येक पराजय एवं मोहभंग के सामने तथा समस्त प्रतिरोधपूर्ण, विरोधी और निषेधकारी घटनाओं एवं शक्तियों के समक्ष बिना थके-हारे अन्त तक डटा रहता है, वही अन्त में विजयी होता है और देखता है कि उसकी श्रद्धा सच्ची सिद्ध हुई है क्योंकि मनुष्य में रहने वाली आत्मा और दिव्य शक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७७३

अगर तुम्हारी श्रद्धा दिनानुदिन दृढ़तर होती जा रही है तो निस्सन्देह तुम अपनी साधना में प्रगति कर रहे हो... —*श्रीअरविन्द*

सब इस मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं

हम सब के अन्दर समरूप से जो भागवत उपस्थिति है वह कोई अन्य प्राथमिक मांग नहीं करती यदि एक बार इस प्रकार से श्रद्धा और हृदय की सच्चाई के साथ तथा मूलतः पूर्णता के साथ सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया जाये। सब इस द्वार तक पहुंच सकते हैं, सब इस मन्दिर के अन्दर प्रवेश कर सकते हैं, सर्वप्रेमी के इस प्रासाद में हमारे सारे सांसारिक भेद हवा हो जाते हैं। यहां पुण्यात्मा का न कोई विशेष आदर है, न पापात्मा का तिरस्कार; पवित्रात्मा और शास्त्रविधि का ठीक-ठीक पालन करने वाला सदाचारी ब्राह्मण और पाप और दुःख के गर्भ से उत्पन्न तथा मनुष्यों द्वारा तिरस्कृत-बहिष्कृत चाण्डाल दोनों ही एक साथ इस रास्ते पर चल सकते हैं और समान रूप से परमा मुक्ति और सनातन के अन्दर परम निवास का मुक्त द्वार पा सकते हैं। पुरुष और स्त्री दोनों का ही भगवान् के सामने समान अधिकार है; क्योंकि भागवत आत्मा मनुष्यों को देख-देख कर या उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा या मर्यादा को सोच-सोच कर उसके अनुसार आदर नहीं देती; सब बिना किसी मध्यवर्ती या बाधक शर्त के सीधे उसके पास जा सकते हैं। भगवान् कहते हैं कि, "यदि कोई महान् दुराचारी भी हो और वह अनन्य और सम्पूर्ण प्रेम के साथ मेरी ओर देखे तो उसे साधु ही समझना चाहिये, उसकी प्रवृत्तिशील संकल्पशक्ति स्थिरभाव से और पूर्ण रूप से ठीक रास्ते पर आ गयी है। वह जल्द ही धर्मात्मा बन जाता और शाश्वत शान्ति लाभ करता है।"

CWSA खण्ड १९, पृ. ३३४

"योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है, ज्ञानी से श्रेष्ठ है, कर्मी से श्रेष्ठ है; इसलिए हे अर्जुन, तू योगी बन।" योगी वह है जो कर्म से, ज्ञान से, तप से अथवा चाहे जिस तरह से हो, केवल आत्मज्ञान के लिए आत्मज्ञान, केवल शक्ति के लिए शक्ति या केवल किसी चीज के लिए कोई चीज नहीं चाहता, बल्कि केवल भगवान् के साथ ऐक्य ही ढूंढ़ता और पाता है; उसी ऐक्य में सब कुछ आ जाता है तथा सब कुछ अपने रूप से ऊपर उठ कर परम भागवत अर्थ को प्राप्त हो जाता है।

CWSA खण्ड १९, पृ. २४६

परम श्रद्धा वह है जो सबके अन्दर ईश्वर को देखती है और उस श्रद्धा के नेत्र के लिए अभिव्यक्ति तथा अनभिव्यक्ति एक ही परमेश्वर हैं। पूर्ण मिलन या योगयुक्त भाव वह है जो प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक कार्य में तथा सम्पूर्ण प्रकृति के साथ भगवान् से मिलता है।

CWSA खण्ड १९, पृ. ४००

श्रद्धा की प्रकृति

श्रद्धा, विश्वास, भरोसा, आस्था

श्रद्धा एक व्यापक शब्द है—यह है भागवत अस्तित्व, प्रज्ञा, शक्ति, प्रेम तथा कृपा में आत्मा का विश्वास। भरोसा तथा आस्था श्रद्धा के पहलू और उसके फल हैं।

भरोसे में इस निश्चिति का भाव होता है कि जब कभी हम सच्चाई से भगवान् को पुकारेंगे तो वे हमारी सुनेंगे, हमारी सहायता के लिए तत्पर रहेंगे और यह भी कि भगवान् जो करते हैं, अच्छे-से-अच्छे के लिए ही करते हैं।

आस्था है, भगवान् और उनके पथ-प्रदर्शन तथा उनकी सुरक्षा पर मन और हृदय की पूर्ण निर्भरता।

*

श्रद्धा (Faith)—ऊर्जस्वी सम्पूर्ण विश्वास तथा स्वीकृति।
विश्वास (Belief)—केवल बौद्धिक स्वीकृति।
दृढ़ धारणा (Conviction)—बौद्धिक विश्वास जो अच्छे कारणों पर टिका प्रतीत होता है।
निर्भरता (Reliance)—किसी वस्तु के लिए अन्य का सहारा लेना, लेकिन वह आस्था पर आधारित हो।
आस्था (Trust)—किसी दूसरे की सहायता पर पूरे-पक्के भरोसे की भावना और उसके वचन, स्वभाव, इत्यादि पर विश्वास।
भरोसा (Confidence)—आस्था के संग चलती सुरक्षा की भावना।
CWSA खण्ड २९, पृ. ८८

श्रद्धा अनुभूति पर निर्भर नहीं करती

मैं श्रद्धा के बारे में कुछ कहना चाहता हूं जिसके लिए तुम कहते हो कि वह तुम्हारे अन्दर नहीं है और अनुभूति के अभाव में तुम उसे पा भी नहीं सकते। सबसे पहली बात तो यह है कि श्रद्धा अनुभूति पर निर्भर नहीं करती; यह ऐसी चीज है जो अनुभूति से पहले ही उपस्थित रहती है। जब

कोई योग आरम्भ करता है तो वह साधारणतया अनुभव के बल पर नहीं आरम्भ करता बल्कि श्रद्धा-विश्वास के बल पर करता है। यह बात केवल योग और आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं बल्कि साधारण जीवन पर भी लागू होती है। सभी कर्मशील व्यक्ति, ज्ञान के आविष्कर्ता, उद्‌घाटक और स्रष्टा श्रद्धा-विश्वास से ही आरम्भ करते हैं और, जब तक प्रमाण नहीं मिल जाता या कार्य पूरा नहीं हो जाता तब तक वे निराशा, असफलता, प्रमाणाभाव, अस्वीकृति के बावजूद अपना प्रयास जारी रखते हैं, क्योंकि उनमें कोई चीज ऐसी होती है जो उनसे कहती है कि यही सत्य है, यही वह चीज है जिसका अनुसरण करना चाहिये और जिसे पूरा करना होगा। रामकृष्ण से जब यह पूछा गया कि क्या अन्ध-श्रद्धा रखना अनुचित नहीं है तब उन्होंने तो यहां तक कह डाला कि अन्ध-श्रद्धा ही तो रखनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा या तो अन्धी होती है अथवा वह श्रद्धा ही नहीं होती, बल्कि कोई अन्य चीज होती है, जैसे युक्तिपूर्ण अनुमान, प्रमाण-सिद्ध विश्वास या निश्चित ज्ञान।

एकमात्र वस्तु जिसकी खोज करनी चाहिये

श्रद्धा-विश्वास अन्तरात्मा की किसी ऐसी चीज के विषय में गवाही है जो अभी अभिव्यक्त, उपलब्ध या अनुभूत नहीं हुई है, परन्तु फिर भी जिसे हमारे अन्दर का 'ज्ञाता' सभी लक्षणों का अभाव होने पर भी, सत्य या अनुसरण करने अथवा प्राप्त करने-योग्य परम वस्तु अनुभव करता है। यह चीज उस समय भी हमारे अन्दर बनी रह सकती है जब मन में कोई दृढ़ विश्वास न हो, यहां तक कि जब प्राण संघर्ष करता, विद्रोह करता और अस्वीकार करता हो। ऐसा कौन है जो योगाभ्यास करता हो और जिसके सामने निराशा और असफलता और अविश्वास और अन्धकार के काल, बहुत लम्बे-लम्बे काल न आते हों? परन्तु कोई चीज उसमें ऐसी होती है जो उसे सहारा देती है और उसके बावजूद बनी रहती है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि जिस चीज का वह अनुसरण कर रही थी वह अब भी सत्य है और इसे वह अनुभव ही नहीं करती बल्कि, उससे कहीं अधिक, वह इसे जानती है। योग की मौलिक श्रद्धा, जो अन्तरात्मा में निहित होती है, यह है कि भगवान् हैं और भगवान् ही वह एकमात्र वस्तु

हैं जिसकी खोज करनी चाहिये—जीवन में दूसरी कोई चीज ऐसी नहीं जो उसकी तुलना में प्राप्त करने-योग्य हो। जब तक यह श्रद्धा किसी मनुष्य में है तब तक वह आध्यात्मिक जीवन के लिए निर्दिष्ट है और मैं कहूंगा कि यदि उसकी प्रकृति बाधा-विघ्नों से पूर्ण और अस्वीकृतियों तथा कठिनाइयों से ठसाठस भरी हुई हो फिर भी, और यहां तक कि यदि उसे अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़े फिर भी, आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाना उसके लिए सुनिश्चित है।

प्रयत्न कभी नहीं छोड़ना चाहिये

बस, इसी श्रद्धा को तुम्हें अपने अन्दर विकसित करने की आवश्यकता है—युक्ति-तर्क और साधारण समझ के साथ मेल खाने वाली यह श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि यदि भगवान् का अस्तित्व है और उन्होंने ही तुम्हें इस पथ पर बुलाया है (जैसा कि स्पष्ट है), तो निश्चय ही पीछे की ओर तथा आदि से अन्त तक हमेशा भागवत पथ-प्रदर्शन मौजूद रहेगा और सभी कठिनाइयों के बावजूद तुम अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुंचोगे। असफलता का सुझाव देने वाली विरोधी शक्तियों की वाणियों को अथवा उनको प्रतिध्वनित करने वाली अधीरता की, प्राणिक जल्दबाजी की वाणियों को नहीं सुनना चाहिये। इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये कि चूंकि महान् कठिनाइयां मौजूद हैं इसलिए सफलता नहीं मिल सकती अथवा जब अभी तक भगवान् नहीं दिखायी दिये तब वे कभी दिखायी नहीं देंगे, बल्कि इस मनोभाव को ग्रहण करना चाहिये, जिसे किसी महान् और कठिन लक्ष्य पर अपना मन एकाग्र करने पर प्रत्येक व्यक्ति ही ग्रहण करता और कहता है कि "सभी कठिनाइयों के होते हुए भी मैं तब तक प्रयत्न करता रहूंगा जब तक कि सफल नहीं हो जाता।" और जिसमें भगवान् में विश्वास रखने वाला इतना और जोड़ देता है कि "भगवान् हैं और उन्हें पाने का मेरा प्रयास कभी विफल नहीं हो सकता। जब तक मैं उन्हें पा नहीं लेता तब तक मैं प्रत्येक चीज के अन्दर से होता हुआ आगे बढ़ता रहूंगा।"

CWSA खण्ड २९, पृ. ९२-९४ —श्रीअरविन्द

आवश्यक नहीं कि अनुभूतियां श्रद्धा प्रदान करें

तुम्हारा यह कहना कि श्रद्धा के लिए अनुभूति का होना जरूरी है, उसके बिना श्रद्धा हो ही नहीं सकती, पूरी तरह से मानव मनोविज्ञान का खण्डन करता है। हजारों लोगों के अन्दर अनुभूति होने से पहले श्रद्धा होती है और यह श्रद्धा ही अनुभूति में उनकी सहायक होती है। "अनुभूति के बिना विश्वास नहीं" का सिद्धान्त भौतिक विज्ञान पर लागू होता है, आध्यात्मिकता के क्षेत्र में, या यह कहें कि मानव-कर्मक्षेत्र में यह विनाशकारी सिद्ध होगा। सन्तों या भक्तों को भगवान् की अनुभूति होने के बहुत पहले से ही भगवान् में श्रद्धा होती है—कर्मी मनुष्यों को भी अपने हेतु के सफलता से मण्डित होने से बहुत पहले उसमें विश्वास होता है—अन्यथा अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए हार, असफलता और घातक खतरे के बावजूद निरन्तर संघर्ष करने में वे समर्थ नहीं होते। मुझे पता नहीं कि सच्ची श्रद्धा से 'क' का क्या तात्पर्य है। मेरे लिए तो श्रद्धा बौद्धिक विश्वास नहीं बल्कि अन्तरात्मा की क्रिया है; जब मेरा विश्वास डोल जाता, असफल हो जाता, नष्ट हो जाता है फिर भी मेरी अन्तरात्मा अटल बनी रहती और बलपूर्वक आग्रह के साथ कहती रहती है कि "यही पथ है, दूसरा नहीं; जिस सत्य को मैंने अनुभव किया है वही सत्य है, मन चाहे उस पर विश्वास करे या न करे।" दूसरी ओर, यह जरूरी नहीं है कि अनुभूतियां श्रद्धा प्रदान करें। एक साधक ने मुझे लिखा, "मैं अनुभव करता हूं कि श्रीमां की कृपा मेरे अन्दर उतर रही है, लेकिन मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता क्योंकि यह मेरी प्राणिक कल्पना हो सकती है।" एक दूसरे साधक को कई सालों तक अनुभूतियां हुईं, लेकिन फिर उसका पतन हो गया क्योंकि उसने कहा कि उसने "श्रद्धा खो दी है"। ये सब चीजें मेरी कल्पनाएं नहीं हैं, ये सब तथ्य हैं और हर एक तथ्य अपनी-अपनी कहानी सुनाता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९४-९५

श्रद्धा और ज्ञान

जब तक हम परम सत्य को नहीं जान लेते (मन के द्वारा नहीं बल्कि अनुभूति के द्वारा, चेतना के परिवर्तन के द्वारा) तब तक स्वयं को सहारा देने तथा सत्य को पकड़े रहने के लिए हमें अन्तरात्मा की श्रद्धा की

आवश्यकता होती है—परन्तु जब हम ज्ञान में निवास करते हैं, यह श्रद्धा ज्ञान में परिवर्तित हो जाती है।

निस्सन्देह, मैं प्रत्यक्ष आध्यात्मिक ज्ञान की बात कर रहा हूं। मानसिक ज्ञान श्रद्धा का स्थान नहीं ले सकता, जब तक मनुष्य में केवल मानसिक ज्ञान है तब तक श्रद्धा की आवश्यकता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९१

समर्पण में आलस्य और दुर्बलता को नहीं आने देना चाहिये

श्रद्धा, भगवान् के ऊपर निर्भरता, भागवत शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण और आत्मदान—ये सब आवश्यक और अनिवार्य हैं। परन्तु भगवान् के ऊपर निर्भर रहने के बहाने आलस्य और दुर्बलता को नहीं आने देना चाहिये तथा जो चीजें भागवत सत्य के मार्ग में बाधक होती हैं उनका निरन्तर त्याग करते रहना चाहिये। भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण को, अपनी ही वासनाओं तथा निम्नतर प्रवृत्तियों के प्रति या अपने अहंकार या अज्ञान और अन्धकार की किसी शक्ति के प्रति—जो कि भगवान् का मिथ्या रूप धारण करके आती है—आत्मसमर्पण करने का एक बहाना, एक आवरण या एक अवसर नहीं बना देना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. ८७

किसी भी प्रकार के निरुत्साह को अपने ऊपर हावी न होने दो और भागवत कृपा पर किसी प्रकार का अविश्वास न रखो। जो भी कठिनाइयां तुम्हारे बाहर हैं, जो भी दुर्बलताएं तुम्हारे अन्दर हैं, यदि तुम अपनी श्रद्धा और अपनी अभीप्सा पर दृढ़तापूर्वक डटे रहो तो गुह्य शक्ति तुम्हें उनमें से पार निकाल लायेगी और तुम्हें यहां वापस ले आयेगी। यदि तुम विरोधों और कठिनाइयों से दबे हुए हो, यदि तुम लड़खड़ाते हो, यदि तुम्हारे लिए मार्ग बन्द प्रतीत होता है फिर भी अपनी अभीप्सा को पकड़े रहो; यदि कुछ समय के लिए श्रद्धा मेघाच्छन्न हो गयी है तो मन और हृदय में हमारी ओर मुड़ो और बादल छंट जायेंगे। पत्रों के रूप में बाहरी सहायता का जहां तक प्रश्न है, हम उसे तुम्हें देने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं... परन्तु पथ पर डटे रहो—फिर अन्त में सारी चीजें अपने-आप खुल जायेंगी और परिस्थितियां आन्तरिक आत्मा के सामने झुक जायेंगी।

—श्रीअरविन्द

दृढ़ और निरन्तर संकल्प पर्याप्त है

अगर श्रद्धा हो, आत्म-समर्पण के लिए दृढ़ और निरन्तर संकल्प हो तो पर्याप्त है। यह तो जानी हुई बात है कि मानव प्रकृति के लिए फिलहाल यह सम्भव नहीं है कि उसके अन्दर सन्देह की गतियां न हों, अन्धकार न हो, वह तो ऐसी क्रियाओं और गतियों से भरा हुआ है जिन्हें भगवान् के अर्पण नहीं किया गया है, और यह सब तब तक रहेगा ही जब तक कि आन्तरिक चेतना इतने पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हो जाती कि इन गतियों का बना रहना ही असम्भव हो जाये। चूंकि मानव ऐसा है इसीलिए इस संकल्प की आवश्यकता है कि परमा शक्ति उसकी बाधाओं को दूर कर दे। यह तभी हो सकता है जब साधक अपने तन-मन-हृदय से इसके लिए राजी हो जाये। एक बार राजी हो जाने पर बस उसे यही करना है कि जब-जब निम्न गतियां उठें, वह उन्हें अस्वीकार करता चले, इसके लिए उसकी संकल्प-शक्ति, उसकी श्रद्धा को बहुत मजबूत होना चाहिये—क्योंकि अन्ततः, निरन्तरता का यही प्रयास उच्चतर शक्ति को कार्य करने देने के लिए स्थायी बना सकता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९८

*तपस् की अन्तिम सम्भाव्य सर्वशक्तिमत्ता तथा सत्य-विचार (Idea) की अमोघ सिद्धि समस्त योग की सच्ची आधारशिला हैं। मनुष्य में हम इन शब्दों को **संकल्प** तथा **श्रद्धा** द्वारा व्यक्त करते हैं–एक ऐसा संकल्प जो अन्तिम रूप से आत्म-प्रभावी हो क्योंकि यह ज्ञान के उपादान से बना है तथा एक ऐसी श्रद्धा जो निम्न चेतना में एक ऐसे सत्य अथवा सत्य-विचार का प्रतिबिम्ब है जो अभी तक अभिव्यक्ति में चरितार्थ नहीं हुआ है। सत्य-विचार की यही आत्मनिश्चिति गीता के इस कथन–"यो यच्छ्रद्धः स एव सः" में व्यक्त हुआ है–जो भी मनुष्य की श्रद्धा अथवा उसमें निश्चित सत्य-विचार हो, वही वह बन जाता है।*

CWSA खण्ड २३, पृ. ४४

"श्रद्धा के साथ जो कोई भक्त मेरे जिस किसी रूप को पूजना चाहता है, मैं उसकी वही श्रद्धा उसमें अचल-अटल बना देता हूं।" वह अपने मत और उपासना की उस श्रद्धा के बल पर अपनी इच्छा पूर्ण करा लेता और उस आध्यात्मिक उपलब्धि को प्राप्त कर लेता है जिसका वह उस समय अधिकारी होता है।

CWSA खण्ड १९, पृ. २८७

श्रद्धा तथा शंका

श्रद्धा और धैर्य हैं पहली आवश्यकताएं

सभी योगों में पहली आवश्यकताएं हैं—श्रद्धा तथा धैर्य।...

प्राणिक प्रकृति का मनुष्य सदा ही अपने परिश्रम के फल के लिए तरसता है और यदि उसे ऐसा लगता है कि फल देने से इन्कार किया जा रहा है या इसमें बहुत देर लगायी जा रही है तो वह आदर्श तथा पथ-प्रदर्शन में विश्वास करना छोड़ देता है।... जब हम बहुत समय तक कष्ट भोगते या अंधेरे में ठोकरें खाते हैं तब अपने हृदयों में भगवान् को कोसने अथवा जो आदर्श हमने अपने सामने रखा है उसे त्याग देने से अधिक आसान हमारे लिए और कुछ नहीं होता। कारण, हम कहते हैं, "मैंने सर्वोच्च सत्ता पर विश्वास किया है और मेरे साथ विश्वासघात करके मुझे दुःख, पाप और भ्रान्ति के गर्त में गिरा दिया गया है।" अथवा, "मैंने एक ऐसे विचार पर अपने सारे जीवन की बाजी लगा दी है जिसे अनुभव के दृढ़ तथ्य खण्डित तथा निरुत्साहित करते हैं। यह अधिक अच्छा होता कि मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे व्यक्ति हैं जो अपनी सीमाएं स्वीकार करते हैं और सामान्य अनुभव की स्थिर भूमि पर चलते हैं।" ऐसी घड़ियों में—और ये कभी-कभी बारम्बार आती हैं और देर तक रहती हैं—समस्त उच्चतर अनुभव को भुला दिया जाता है और हृदय अपनी कटुता में डूब जाता है। यहां तक कि इन अंधेरे रास्तों में हम सदा के लिए पतित भी हो सकते हैं अथवा दिव्य संघर्ष से मुंह मोड़ सकते हैं।

परन्तु यदि कोई पथ पर दूर तक तथा दृढ़ता से चल चुका हो तो हृदय की श्रद्धा उग्र-से-उग्र विरोधी दबाव में भी स्थिर रहेगी; यह आच्छादित या प्रत्यक्षतः अभिभूत भले ही हो जाये फिर भी, यह पहला अवसर पाते ही फिर उभर आयेगी। क्योंकि, हृदय या बुद्धि से ऊंची कोई वस्तु इसे अति निकृष्ट पतनों के बावजूद तथा अत्यन्त दीर्घकालीन विफलता में भी सहारा देगी। परन्तु ऐसी दुर्बलताएं या अन्धकार की अवस्थाएं एक अनुभवी साधक की प्रगति में भी बाधा पहुंचाती हैं और नौसिखिए के लिए तो ये अत्यन्त ही भयानक होती हैं। अतः, यह आरम्भ से ही आवश्यक होता है कि हम इस पथ की विकट कठिनाई को समझें और उसे अंगीकार करें तथा उस श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करें जो बुद्धि को भले ही अन्ध प्रतीत होती हो फिर भी हमारी तर्कशील बुद्धि से अधिक ज्ञानपूर्ण होती है।

CWSA खण्ड २३, पृ. २४४-४५

सन्देहवाद और अस्वीकृति का भाव आड़े आ जाता है

आध्यात्मिक चेतना एक नवीन चेतना है जिसे विकसित होना है और जो विकसित होती आ रही है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि पहले और बहुत दिनों तक केवल थोड़े से लोगों को ही पूर्ण प्रकाश प्राप्त हो जब कि बहुसंख्यक लोगों को, जो कि समूची मानवजाति के मुकाबले फिर भी बहुत थोड़े होंगे, आंशिक रूप से प्राप्त हो। परन्तु जिस चीज को थोड़े से लोग प्राप्त कर चुके हैं उसे विकासक्रम के एक स्तर पर पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सकता है और अधिक सामान्य बनाया जा सकता है और बस इसी चीज का हम प्रयास कर रहे हैं। परन्तु ज्योति, शान्ति और आनन्द की इस महत्तर चेतना को यदि प्राप्त करना है तो यह कार्य तर्क-वितर्क या सन्देहवाद के द्वारा नहीं किया जा सकता; सन्देहवाद तो बस उन्हीं चीजों का आश्रय लेगा जो विद्यमान हैं और यह कहेगा कि "यह तो असम्भव है, असम्भव—जो भूतकाल में नहीं हुआ है वह भविष्य में भी नहीं होगा; जो चीज अब तक इतने अपूर्ण रूप में उपलब्ध हुई है वह इससे अच्छे रूप में भविष्य में नहीं उपलब्ध हो सकती।" सच पूछा जाये तो आवश्यकता है एक विश्वास की, एक संकल्प की अथवा कम-से-कम एक सतत आकांक्षा और अभीप्सा की—इस भावना की कि बस यही और एकमात्र यही चीज मुझे सन्तुष्ट कर सकती है और फिर उसकी ओर जाने के एक प्रबल प्रयास की जो तब तक बन्द न हो जब तक कि वह कार्य पूरा न हो जाये। यही कारण है कि सन्देहवाद और अस्वीकृति के भाव रास्ते में रोड़े अटकाते हैं, क्योंकि ये दोनों उन अवस्थाओं के निर्माण के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं जिनमें आध्यात्मिक अनुभूति स्वयं को प्रकट कर सकती है।

CWSA खण्ड २८, पृ. २७१

साधना के यथासम्भव अनिवार्य बाधा-विघ्न

योग बौद्धिक तर्क-वितर्क या विवेचन का क्षेत्र नहीं है। सच पूछा जाये तो युक्तिसंगत या तर्कशील मन का अभ्यास करके कोई न तो योग का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न उसका अनुसरण ही कर सकता है। संशय की भावना, "शुद्ध सन्देह" और यह दावा कि बुद्धि को सन्तुष्ट होना चाहिये और प्रत्येक प्रश्न का उसे ही न्यायाधीश बनाना चाहिये, यह सब बाहर मानसिक कार्य के क्षेत्र में बहुत अच्छा है। परन्तु योग कोई मानसिक क्षेत्र नहीं है, जिस

चेतना को स्थापित करना है वह कोई मानसिक, युक्तिशील या तार्किक चेतना नहीं है—योग ने तो यह निर्धारित कर रखा है कि यदि, और जब तक मन—-बौद्धिक या तार्किक मन भी—शान्त नहीं हो जाता, और स्थिरता या नीरवता के अन्दर किसी उच्चतर और गभीरतर चेतना, दर्शनशक्ति और ज्ञान की ओर नहीं खुल जाता, साधना अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। इसी कारण भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में गुरु के प्रति शंकाहीन उद्घाटन की मांग की गयी है; गुरु की निन्दा, टीका-टिप्पणी और उन पर आक्रमण तो गर्हित तथा साधना के लिए यथासम्भव अनिवार्य बाधा-विघ्न माना जाता था।

सन्देह-भावना

यदि सन्देह-भावना को तर्क-वितर्क के द्वारा जीता जा सके तो सम्भव है कि युक्ति द्वारा सन्तोष होने के कारण उसे दूर करने के लिए आवश्यक कोई वस्तु मिल जाये। परन्तु सन्देह की भावना स्वयं अपने कारण ही, केवल सन्देह करने के लिए ही सन्देह करती है; यह मात्र अपने विशिष्ट धर्म के लिए यन्त्र के रूप में मन का व्यवहार करती है, और उस समय भी बिलकुल ऐसा ही होता है जब मन यह समझता है कि वह अपनी सच्ची और अदम्य शंकाओं का समाधान ईमानदारी के साथ खोज रहा है। परन्तु मानसिक दृष्टिकोण सर्वदा बदलता रहता है, और यह सर्वविदित बात है कि लोग एक-दूसरे को युक्ति द्वारा प्रभावित किये बिना चिरकाल तर्क कर सकते हैं। जैसे अटल और निरन्तर बार-बार उठने वाले सन्देह दीर्घकाल से इस आश्रम में भरे हुए हैं और साधना में बाधक हो रहे हैं, ऐसे सन्देहों का सतत उत्तर देते रहना योग के लक्ष्य को भ्रष्ट करना तथा योग के केन्द्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध जाना है जिससे कोई भी आध्यात्मिक या अन्य प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने मौलिक सन्देहों को जीत लेता है तो वह केवल अपने अन्दर विद्यमान चैत्य पुरुष के विकास के कारण या अपनी चेतना के विस्तार के द्वारा ही जीतता है, अन्य किसी उपाय से नहीं। जो प्रश्न खोज की भावना से उठते हैं, आक्रामक या स्वाग्रही नहीं होते, बल्कि ज्ञान की भूख का एक अंग होते हैं, उनका उत्तर दिया जा सकता है, पर "सन्देह की वृत्ति" अतोषणीय और अतृप्य है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३३७-३८

आत्मा और मन समान वस्तुएं नहीं हैं

मैं उन लोगों से केवल एक ही सरल प्रश्न पूछना चाहूंगा जो मन-बुद्धि को आध्यात्मिक अनुभव का मापदण्ड और निर्णायक बनाना चाहते हैं। भला भगवान् मन की अपेक्षा कोई तुच्छ चीज हैं या उससे कोई महत्तर चीज? क्या मानसिक चेतना अन्धे के समान टटोलने वाली अपनी खोज, अन्तहीन तर्क-वितर्क, अतृप्य शंका-सन्देह, कठोर और अनमनीय युक्ति के साथ भागवत चेतना से अधिक श्रेष्ठ है या यहां तक कि उसके समान कोई वस्तु है या अपने कर्म और स्थिति में उससे अधिक हीन कोटि की कोई वस्तु है? यदि वह कोई महत्तर वस्तु है तो फिर भगवान् की खोज करने का कोई कारण नहीं। यदि वह एक जैसी हो तो आध्यात्मिक अनुभव बिलकुल निरर्थक है। परन्तु वह यदि तुच्छतर वस्तु है तो भला यह किस तरह भगवान् को चुनौती दे सकती, उनका विचार कर सकती, अपने न्यायालय के सामने एक अभियुक्त या साक्षी के रूप में खड़ा कर सकती, परीक्षकमण्डल के सामने एक उम्मीदवार के रूप में दाखिले के लिए उपस्थित होने के लिए बुला सकती अथवा अपने परीक्षण के अणुवीक्षक यन्त्र के नीचे एक कीड़े की भांति उन्हें सूई में बिद्ध कर सकती है? क्या प्राणमय पशु अपनी प्राणिक सहज वृत्तियों, साहचर्यों और आवेगों को अभ्रान्त मापदण्ड के रूप में ऊंचा उठा सकता और उसके द्वारा मानव-मन का विचार, उसकी व्याख्या और नापतोल कर सकता है? नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्य का मन अधिक महान् शक्ति है और अधिक विशाल, अधिक जटिल ढंग से कार्य करती है, पाशविक प्राणिक चेतना जिसका अनुसरण नहीं कर सकती; उसी भांति क्या यह देखना इतना कठिन है कि भागवत चेतना अवश्य ही मानव-मन की अपेक्षा अनन्तगुना विशाल, कहीं अधिक जटिल वस्तु होगी, कहीं अधिक महान् शक्तियों और ज्योतियों से परिपूर्ण होगी, ऐसे ढंग से विचरण करती होगी जिसका विचार, जिसकी व्याख्या या नाप-तौल अपनी भ्रान्त तर्कबुद्धि और सीमित अर्ध-ज्ञान के द्वारा मन नहीं कर सकता? सीधा-सा तथ्य यह है कि आत्मा और मन समान वस्तुएं नहीं हैं और वास्तव में आध्यात्मिक चेतना में ही योगी को प्रवेश करना होता है (इन सब बातों में मैं बिलकुल ही अतिमानस की चर्चा नहीं कर रहा हूं), जब वह भगवान् के साथ स्थायी सम्पर्क या एकत्व प्राप्त करना चाहता है। अतएव यह कोई भगवान् की सनक या निरंकुशता नहीं है कि मन पर यह जोर डाला जाता है कि वह अपनी सीमाओं को जाने, अपने-आपको शान्त-स्थिर करे, अपनी मांगों का परित्याग कर दे और उस महत्तर ज्योति की

ओर उद्‌घाटित और समर्पित हो जाये जिसे वह अपने अधिक अन्धकारपूर्ण स्तर पर नहीं प्राप्त कर सकता।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३४०-४१

कोई भी कठिनाई से बच नहीं सकता

कठिनाई के काल अनिवार्य रूप से आते ही हैं क्योंकि निम्नतर प्रकृति सभी में विद्यमान है। तुम्हें करना यह चाहिये कि तुम उस दृढ़ता को बनाये रखो जिसकी तुमने चर्चा की है और तब तक लगे रहो जब तक भागवत शक्ति और तुम्हारा संकल्प नीचे से उभरने वाली वस्तु से छुटकारा न पा लें। जो वस्तु ऊपर आकर अपने को यों दिखाती है मानों वह विशेष रूप से तुम्हारी है, तुम उसकी ओर ध्यान ही क्यों देते हो भला? वे मानव सत्ता के निम्नतर प्राण के अंग हैं तथा ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसमें वे न हों। इसलिए उनकी उपस्थिति का अर्थ यह बिलकुल भी नहीं है कि तुम श्रीमां के पास नहीं पहुंच सकते। जब मन और अन्तरात्मा ने लक्ष्य चुन लिया है तो सत्ता का शेष भाग उसका अनुसरण करने को बाध्य होता है; इतना अवश्य है कि उनके अधिक अन्धकारमय होने के कारण प्रतिरोध वहां अधिक हठीला होता है। किन्तु तुम्हारे प्राण में भी अब लक्ष्य-प्राप्ति का संकल्प स्थिर हो गया है, एक निम्नतर भाग को ही इन वस्तुओं का प्रत्युत्तर देने की आदत है इसलिए जब कोई लहर आती है तो यह उससे बचना नहीं जानता, कुछ समय के लिए वह लहर उसे लील जाती है।... तुम्हें बस दृढ़तापूर्वक बढ़ते जाना है और एक समय ऐसा आयेगा जब फिर लहरें उठेंगी ही नहीं।

केवल तीन ही आधारभूत अवरोध हैं जो मार्ग में बाधक बन सकते हैं:

१. श्रद्धा का अभाव या अपर्याप्त श्रद्धा।

२. अहंकार—अपने ही विचारों से चिपटा हुआ मन, सच्चे समर्पण की अपेक्षा अपनी ही कामनाओं को अधिक पसन्द करने वाला प्राण और अपनी निजी आदतों को पकड़े रहने वाला शरीर।

३. किसी तमस् और मूलभूत प्रतिरोध से युक्त चेतना जो बदलना नहीं चाहती क्योंकि प्रयत्न उसके बूते की बात नहीं अथवा वह अपनी क्षमता में या भगवान् की शक्ति पर विश्वास करना नहीं चाहती—या फिर वह किसी अन्य अधिक अवचेतन कारण से बदलना नहीं चाहती।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ६६३, ६३८

अधिकतर मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति बाह्य आश्रय की, अर्थात् उनसे बाहर विद्यमान किसी श्रद्धास्पद वस्तु की अपेक्षा करती है। उन्हें अपनी उन्नति के लिए ईश्वर की बाह्य मूर्ति या मानव-रूप प्रतिनिधि—अवतार, पैगम्बर या गुरु—की आवश्यकता होती है। अथवा उन्हें इन दोनों की ही आवश्यकता होती है और दोनों को ही वे अंगीकार करते हैं। मानव आत्मा की आवश्यकता के अनुसार भगवान् अपने-आपको देवता, मानवरूपी भगवान् या सीधी-सादी मानवता के रूप में अभिव्यक्त करते हैं और अपनी प्रेरणा का सञ्चार करने के लिए, साधन के तौर पर, उस घने परदे को प्रयोग में लाते हैं जो देवाधिदेव को अति सफलतापूर्वक छिपाये रहता है।
CWSA खण्ड २३, पृ. ६४

श्रद्धा तथा योग

कल्याण-श्रद्धा

पूर्णता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है सम हृदय की, न कि केवल निष्क्रिय समता की; हमें एक ऐसी भागवत शक्ति की अनुभूति होनी चाहिये जो हमारे समस्त अनुभवों के पीछे हमारे कल्याण की ओर अग्रसर हो रही है, हमारे अन्दर एक ऐसी श्रद्धा एवं संकल्पशक्ति होनी चाहिये जो जगत् के हर विष को अमृत में परिणत कर सके, विपदा के पीछे छिपे हुए अधिक सुखदायी आध्यात्मिक हेतु को, दुःख के पीछे प्रेम के रहस्य को तथा वेदना के बीज में छिपी हुई दिव्य शक्ति और आनन्द के पुष्प को देख सके। इस श्रद्धा, **कल्याण-श्रद्धा**, का होना आवश्यक है ताकि हृदय और सम्पूर्ण व्यक्त चैत्य सत्ता गुप्त दिव्य आनन्द को प्रत्युत्तर दे सके और अपने-आपको इस वास्तविक मूल सारतत्त्व में रूपान्तरित कर सके। इस श्रद्धा और संकल्प को असीम, विशालतम और गभीरतम प्रेम-शक्ति से समन्वित तथा उसकी ओर उन्मुक्त होना चाहिये। कारण, हृदय का मुख्य कार्य, उसका सच्चा व्यापार है प्रेम। वह पूर्ण मिलन और एकत्व की प्राप्ति के लिए हमारा विधिनियत करण है; क्योंकि जगत् में केवल बुद्धि के द्वारा एकत्व को देखना ही पर्याप्त नहीं है जब तक कि हम हृदय के द्वारा तथा चैत्य पुरुष में भी उसे अनुभव न करें, और इसका अर्थ है, एकमेव में तथा उसके अन्दर अवस्थित जगत् के सर्वभूतों में आनन्द लेना, भगवान् और समस्त वस्तुओं एवं प्राणियों से प्रेम करना।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७३७

आध्यात्मिक जीवन का विधान

जब तुम अभीप्सा और हर्ष से लबालब भरे हुए हो तो अपने और भगवान् के बीच *किसी भी* विचार, किसी भी घटना को भला क्यों आने दिया जाये? तब कोई भी दूसरी चीज मायने नहीं रखती, भगवान् तथा तुम्हारी अभीप्सा के सिवाय और किसी भी चीज का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अगर तुम भगवान् को तेजी से, निरपेक्ष रूप से, समग्र रूप से पाना चाहो तो तुम्हारा सारा जीवन पूरी तरह से उसी में रमा रहना चाहिये, एकमन हो उसी में जुटे रहो और कोई भी चीज उसके बीच में न आने पाये।

भगवान् के बारे में मानसिक विचारों का भला क्या मूल्य है? इन सब

विचारों का कि उन्हें कैसा होना चाहिये, उन्हें कैसे क्रिया करनी चाहिये, कैसे नहीं करनी चाहिये—ये सारी चीजें रास्ते की बाधा बन कर आती हैं। तुम्हारे लिए केवल भगवान् का महत्त्व है। जब तुम्हारी चेतना भगवान् का आलिंगन कर लेती है, तब तुम जान सकते हो कि भगवान् क्या हैं, उसके पहले नहीं। कृष्ण कृष्ण हैं, उन्होंने क्या किया या क्या नहीं किया, इससे हमारा कोई सरोकार नहीं; हमारे लिए जो चीज महत्त्व रखती है वह है—बस 'उनके' दर्शन करना, 'उनसे' मिलना, उनके 'प्रकाश', 'उपस्थिति', 'प्रेम' तथा 'आनन्द' का अनुभव करना। केवल आध्यात्मिक अभीप्सा का ही महत्त्व है—यही है आध्यात्मिक जीवन का विधान।

मैंने तुमसे भगवान् में, भागवत कृपा में, साधना के सत्य में, सत्ता की मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक कठिनाइयों पर अन्ततः विजय में, पथ तथा गुरु में श्रद्धा-विश्वास रखने के लिए कहा है; यह नहीं कहा कि तुम हेकल, हक्सले या बर्ट्रैण्ड रसल द्वारा लिखे दर्शन के पीछे चलो, क्योंकि अगर उपर्युक्त चीजें सच्ची नहीं हैं तो योग का भी कोई अर्थ नहीं।

अगर व्यक्ति भगवान् को चाहे

... अगर व्यक्ति भगवान् को चाहे तो भगवान् स्वयं उसके हृदय को शुद्ध करने, उसकी साधना को आगे बढ़ाने और उसे आवश्यक अनुभूतियां प्रदान करने का काम अपने हाथ में ले लेंगे। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अगर व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा-विश्वास हो, और हो समर्पण करने की इच्छा तो ऐसा हो सकता और होता है। क्योंकि इस तरह भगवान् द्वारा ले लिये जाने पर तुम्हें, अपने ही प्रयासों पर विश्वास करने की जगह, स्वयं को पूरी तरह प्रभु के हाथों सौंप देना होगा; इसका अर्थ है कि उन प्रभु पर श्रद्धा-विश्वास दृढ़ता से जमाये रखना और क्रमशः आत्म-समर्पण करते रहना होगा। वस्तुतः यही साधना का मूलभूत तथ्य है और स्वयं मैंने भी इसी का अनुसरण किया है और मेरे योग की धुरी यही है। मेरे ख्याल से, रामकृष्ण बिलौटे के रूपक में इसी प्रक्रिया की बात कर रहे हैं। लेकिन सभी तत्काल इसका अनुसरण नहीं कर सकते; इस तक पहुंचने में उनको समय लगता है—जब मन और प्राण शान्त हो जाते हैं तभी इसे सबसे अधिक आसानी से किया जा सकता है।
CWSA खण्ड २९, पृ. ५६, १००, ७०

मां की ओर ताको

किसी भी साधक को कभी भी अयोग्यता के और निराशाजनक विचारों को नहीं पोसना चाहिये—ये एकदम से असंगत होते हैं, क्योंकि व्यक्ति की निजी योग्यता तथा गुण उसे सफल नहीं बनाते बल्कि श्रीमां की कृपा, उनकी शक्ति तथा उस कृपा के प्रति अन्तरात्मा की स्वीकृति तथा मां की परमा शक्ति की उसके अन्दर क्रिया ही साधक को सफल बनाती हैं।

अन्धकार-भरे इन सभी विचारों से मुंह मोड़ लो और केवल मां की ओर ताको, परिणाम तथा अपनी इच्छा की सफलता के लिए अधीर मत बनो, बल्कि श्रद्धा और विश्वास के साथ मां को पुकारो, उनकी क्रिया को अपने अन्दर शान्ति लाने दो और प्रार्थना करो कि चैत्य उद्घाटन तथा उपलब्धि के लिए तुम्हारी प्यास कभी न बुझने पाये। यह चीज निस्सन्देह तथा निश्चित रूप से उस पूर्ण श्रद्धा तथा प्रेम को ले आयेगी जिसे तुम खोज रहे हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३४-३५

आन्तरिक समर्पण की चाबी है श्रद्धा और विश्वास

इस आन्तरिक समर्पण की चाबी है, भगवान् में श्रद्धा और विश्वास। व्यक्ति यह मनोभाव अपना लेता है, "मैं भगवान् को, भगवान् के सिवाय और कुछ नहीं चाहता।" मुझे मालूम नहीं कि तुम भला यह क्यों सोचते हो कि तुम्हें इस मनोभाव को त्याग देने को कहा जा सकता है—अगर यह भाव न रहे तो योग ही नहीं किया जा सकता। "मैं अपने-आपको पूरी तरह से 'उन्हें' दे देना चाहता हूं और चूंकि मेरी अन्तरात्मा यही चाहती है इसलिए इसके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता कि मैं उन्हें पाकर, उनका साक्षात्कार करके ही रहूंगा। मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता, बस यही मांगता हूं कि वे मुझे अपने पास खींच लें—चाहे गुप्त रूप से, चाहे प्रत्यक्ष रूप में, प्रकट या अप्रकट होकर। मैं अपने समय और अपने तरीके पर जोर नहीं दे रहा; वे अपना समय लें, अपना तरीका अपनाएं, मैं उन पर विश्वास करता हूं, उनकी इच्छा मेरे सिर-आंखों पर, मैं उनके प्रकाश, उनकी उपस्थिति और उनके दिये हर्ष के लिए सतत अभीप्सारत रहता हूं, मैं सभी बाधाओं के पार निकलूंगा, कभी हिम्मत न हारूंगा, न ही

रास्ते में देर लगाऊंगा। प्रभो! वर दे कि मेरा मन शान्त बना रहे, केवल उनकी ओर मुड़ा रहे और वे अपनी अचञ्चलता और आनन्द में मेरे हृदय को खोल दें; वर दे कि मेरा प्राण शान्त बना रहे, केवल उनकी ओर मुड़ा रहे और वे अपनी अचञ्चलता और अपने आनन्द में मेरे प्राण को खोल दें। सब कुछ उन्हीं के लिए हो, मैं स्वयं पूरी तरह उनका हो जाऊं। चाहे कुछ भी हो, मैं अपनी इसी अभीप्सा और आत्म-समर्पण से चिपका रहूंगा और इस पूर्ण विश्वास के साथ पथ पर बढ़ता रहूंगा कि ऐसा होकर रहेगा।" इसी मनोभाव में व्यक्ति को विकसित होते रहना चाहिये; क्योंकि, निश्चित रूप से, एक ही बार में इसे पूरी तरह से नहीं पाया जा सकता; मानसिक तथा प्राणिक गतियां हमेशा आड़े आती हैं; लेकिन अगर तुम इसे करने की ठान लो, तो धीरे-धीरे यह तुम्हारे स्वभाव में घर कर लेगा। बाकी सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि जब वह पथ-प्रदर्शक तुम्हें रास्ता दिखाने के लिए तुम्हारा हाथ थाम ले तो तुम मानसिक तथा प्राणिक गतियों के हस्तक्षेप के बिना उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहो।
CWSA खण्ड २९, पृ. ७०-७१

प्रारम्भिक अवस्थाओं में सर्वदा ही कठिनाइयां आती हैं और प्रगति रुक-रुक कर होती है तथा जब तक सत्ता तैयार नहीं हो जाती, आन्तरिक द्वारों के खुलने में देर लगती है। जब कभी तुम ध्यान करते हो निश्चलता का अनुभव करते हो और आन्तरिक ज्योति की झलकें पाते हो तथा आन्तरिक आवेग यदि इतना प्रबल हो जाता है कि बाहरी पकड़ ढीली होने लगती है और प्राणिक उत्पातों की शक्ति घटने लगती है तो यह अपने-आपमें एक महान् प्रगति है। योग का मार्ग लम्बा है, भूमि का एक-एक इंच बहुत प्रतिरोध का सामना करके जीतना होता है तथा साधक को और किसी गुण की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती जितनी कि धैर्य और ऐकान्तिक अध्यवसाय की और उसके साथ ऐसे श्रद्धा-विश्वास की जो सभी कठिनाइयों, विलम्बों तथा आभासी असफलताओं में दृढ़-स्थिर बना रहता है।

—श्रीअरविन्द

इस योग में अपेक्षित मूलभूत श्रद्धा

इस योग में अन्तरात्मा में निहित मूलभूत श्रद्धा यह है कि भगवान् का अस्तित्व है और एकमात्र भगवान् का ही हमें अनुसरण करना है—जीवन में और कोई भी चीज इसकी तुलना में बीस नहीं ठहरती। तुम्हारे अन्दर विकसित होती हुई यही श्रद्धा तुम्हें योग के लिए यहां लायी, यह मत सोचो कि यह अब समाप्त हो गयी या कम हो गयी है—जैसा कि तुम अपनी चिट्ठियों में लिखते हो, उससे तो सचमुच ऐसा लगता है कि अब यह कहीं अधिक आग्रही और दृढ़ हो गयी है। जब तक व्यक्ति के अन्दर यह होती है, उस पर आध्यात्मिक जीवन का ठप्पा लगा होता है, और मैं तो यह कहूंगा कि भले उसका स्वभाव त्रुटियों से भरपूर हो, प्रतिवादों और कठिनाइयों से खचाखच हो, भले वह वर्षों तक संघर्षों से जूझता रहे, लेकिन आध्यात्मिक जीवन की सफलता की मुहर उस पर लग चुकी होती है।

सचमुच अभी तक तुम्हारे अन्दर भगवान् के पथ-प्रदर्शन में अटल श्रद्धा नहीं है। वे अपनी इच्छा प्रकट कर सकते हैं इस पर, और उसे ग्रहण करने की अपनी शक्ति पर तुम्हें सन्देह है। जब तुम आन्तरिक अनुभूति की चौखट पर खड़े थे तब इन्हीं विरोधी शक्तियों ने तुम पर प्रहार किया था—जैसा कि योग में प्रायः होता है—ये शक्तियां तुम्हारे मस्तिष्क पर निरन्तर अपने सिद्धान्त की बौछार करती रहती हैं। वे चाहती हैं कि तुम्हारे अन्दर एक निर्धारित मानसिक रचना हो, ताकि जब-जब तुम मन से ऊपर की किसी चीज के लिए प्रयास करो तब-तब भौतिक मन में वह रचना अपना काम शुरू कर दे और तुम कठिनाई, असफलता और अक्षमता के जाल में फंस जाओ, भले यह विचार तुम्हारे मन में सामने न भी रहे, लेकिन पृष्ठभूमि में तो बना ही रहता है और यही अनुभूति के आने में अड़ंगा लगाता है। इन्हीं मानसिक रचनाओं से तुम्हें पीछा छुड़ाना है, क्योंकि ये उन प्राणिक असफलताओं से कहीं ज्यादा बड़ी बाधाएं हैं जिनको तुम इतना तूल देते हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९३-९४

डटे रहो और जो कुछ अब तक कुटिल है उसे ऋजु कर दिया जायेगा; तुम 'भागवत' उपस्थिति के बारे में जान लोगे, उसका ठोस रूप में अनुभव करोगे और प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा तुम्हारी श्रद्धा को समर्थन मिलेगा। —श्रीअरविन्द

'प्रकाश' तथा 'पुकार' के प्रति निष्ठावान् रहो

जब मैंने अन्तरात्मा के प्रकाश तथा भागवत पुकार के प्रति निष्ठावान् होने की बात कही थी तब मैं तुम्हारे अतीत की किसी चीज या तुम्हारी किसी भूल के बारे में नहीं कह रहा था। मैं बस सभी संकटों और प्रहारों में भागवत पुकार की महान् आवश्यकता के ऊपर जोर दे रहा था—यह कि तुम्हें सभी गलत सुझावों, आवेशों, प्रलोभनों से सावधानी के साथ बचना चाहिये, 'सत्य' का दामन थामे रहना चाहिये और 'प्रकाश' के आदेशात्मक संकेत का पालन करना चाहिये। सभी शंकाओं और समस्त उदासी के सामने निरन्तर दोहराते रहना चाहिये, "मैं भगवान् का हूं, मैं असफल नहीं हो सकता"; अशुद्धता तथा अयोग्यता के सभी सुझावों से कहना चाहिये, "भगवान् के द्वारा चुना हुआ मैं 'अमरता' का बालक हूं; मुझे बस अपने तथा 'उनके' प्रति सच्चा रहना है—विजय सुनिश्चित है; अगर मैं गिर भी गया फिर भी निश्चित है कि मैं उठ खड़ा होऊंगा"; सभी कामनाओं को खदेड़ दो और किसी भी ओछे आदर्श के पीछे मत चलो, उन सभी से कह दो, "यही उच्चतम है, यही वह परम सत्य है जो मेरे अन्दर की अन्तरात्मा को सन्तुष्ट कर सकता है; मार्ग की सभी अग्नि-परीक्षाओं को पार करता हुआ, कसौटियों पर खरा उतरता हुआ मैं दिव्य यात्रा के अन्त तक जाऊंगा।" 'प्रकाश' तथा 'पुकार' के प्रति निष्ठावान् रहने का मेरा यही तात्पर्य है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९९

मन और चैत्य के लिए हमेशा यह अभीप्सा करो कि वे सच्ची चेतना तथा अनुभूति से भरे रहें। तुम्हें विशेष रूप से अचञ्चलता, नीरवता, शान्त श्रद्धा, स्थिरता से बढ़ते हुए विस्तार, अधिकाधिक ज्ञान, गभीर तथा प्रगाढ़, लेकिन साथ ही शान्त भक्ति के लिए अभीप्सा करनी चाहिये। अपने परिवेश तथा विरोधों से परेशान मत होओ। बहुधा ये अवस्थाएं एक तरह की अग्नि-परीक्षा के रूप में तुम पर थोप दी जाती हैं। अगर तुम ऐसी परिस्थितियों में अपने-आपको आन्तरिक रूप से विक्षुब्ध किये बिना शान्त और अचञ्चल बने रहो तथा साधना को जारी रखो तो यह अवस्था तुम्हें आवश्यक शक्ति प्रदान करने में तुम्हारी भरपूर सहायता करेगी; क्योंकि योग का पथ हमेशा आन्तरिक तथा बाह्य कठिनाइयों से घिरा रहता है और उनका सामना करने के लिए साधक को अचञ्चल तथा दृढ़ बल विकसित करना होता है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. १२४

श्रद्धा को पाने का तरीका

श्रद्धा तथा बाकी सभी चीजों को पाने का तरीका बस यही है कि उन्हें पाने के लिए दृढ़ाग्रह के साथ लगे रहो और जब तक ये तुम्हें हस्तगत न हो जायें, न कभी ढीले पड़ो और न ही उदासी के घेरे में फंसो—केवल इसी एक तरीके से इस जगत् में हर एक चीज तब से प्राप्त की गयी है जब से इस पर चिन्तनशील तथा अभीप्सा करने वाले प्राणियों ने पदार्पण किया। सच्चा तरीका यह है कि हमेशा, हमेशा 'प्रकाश' के प्रति खुले रहो और अन्धकार की तरफ पीठ कर लो। उन सभी आवाजों के प्रति एकदम बहरे बन जाओ जो किसी जिद्दी की तरह लगातार चिल्लाती रहती हैं, "तुम यह नहीं कर सकते, तुम यह नहीं करोगे, तुम इसे करने में पूरी तरह असमर्थ हो, तुम तो बस एक सपने की कठपुतली हो।"—क्योंकि ये उन शत्रुओं की आवाजें हैं जो अपने कर्कश शोर-शराबे से भागवत परिणामों को आने से रोकते हैं और अगर कहीं तुम उन पर जरा भी ध्यान दे दो और परिणाम न आयें तो वे अपने सिर विजय का सेहरा बांध तुम्हारी खिल्ली उड़ाते हैं। यह तो सर्वविदित है कि इस प्रयास में पग-पग पर कठिनाई का सामना करना होता है, लेकिन कठिनाई पर असम्भव का बिल्ला नहीं लग जाता—हमेशा कठिन चीज को ही सिद्ध किया जाता है और पृथ्वी के इतिहास में जो कुछ मूल्यवान् की श्रेणी में आता है वह कठिनाइयों पर विजय पाने का ही प्रतीक है। आध्यात्मिक प्रयास के लिए भी यही सत्य ठहरता है।

दृढ़ श्रद्धा बनाये रखो

किसी भी तरह के हतोत्साह को अपने ऊपर हावी मत होने दो और 'भागवत कृपा' पर कभी भी अविश्वास न करो। तुम्हारे बाहर, तुम्हारे चारों ओर जो भी कठिनाइयां हैं, तुम्हारे अन्दर जो भी कठिनाइयां हैं, अगर तुम अपनी श्रद्धा और अपनी अभीप्सा पर कसी हुई पकड़ बनाये रखो, 'गुप्त' शक्ति तुम्हें तुम्हारी कठिनाइयों से पार निकाल कर तुम्हें यहां वापिस ले आयेगी। भले तुम विरोधों और कठिनाइयों के बोझ तले दब जाओ, भले तुम ठोकरों पर ठोकरें खाओ, यहां तक कि सामने अन्धी गली जान पड़े, लेकिन अपनी अभीप्सा की पकड़ को कभी ढीला न छोड़ो, अगर कभी श्रद्धा पर बादल घिर आयें, अपने मन और हृदय में हमेशा हमारी ओर मुड़ जाओ और वे बादल तितर-बितर हो जायेंगे।

CWSA खण्ड २९, पृ. १००, १०१

योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त

स्वयं को 'भागवत प्रभाव' के प्रति खोलना ही इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त है। वह प्रभाव तुम्हारे ऊपर ही है और एक बार तुम उसके प्रति सचेतन बन जाओ तो तुम्हें उसे अपने अन्दर उतारने के लिए बस उसका आह्वान करना होगा। वह मन तथा शरीर में 'शान्ति' के रूप में, 'प्रकाश' के रूप में, कार्य करने वाली 'शक्ति' के रूप में, साकार या निराकार भागवत 'उपस्थिति' के रूप में, 'आनन्द' के रूप में उतरता है। इस चेतना को पाने से पहले व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा तथा उद्घाटन के लिए अभीप्सा होनी चाहिये। श्रद्धा, पुकार, प्रार्थना सभी एक और समान वस्तुएं हैं और सभी प्रभावकारी होती हैं; इनमें से जो तुम्हारे पास आये या जो तुम्हें सबसे सुगम लगे, तुम उसे अपना सकते हो। दूसरा तरीका है एकाग्रता का; तुम अपनी चेतना को हृदय पर एकाग्र करो (कुछ सिर में या सिर के ऊपर करते हैं) और हृदय में श्रीमां पर ध्यान लगाओ या वहां प्रतिष्ठित होने के लिए उनका आवाहन करो। तुम दोनों में से कोई भी विधि अपना सकते हो या अलग-अलग समय पर कभी एक, कभी दूसरी का प्रयोग कर सकते हो—जो सहज रूप से तुम्हारे पास आये या जिसे करने के लिए तुम उस समय प्रेरित होओ। विशेष रूप से, आरम्भ में, सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, मन को शान्त बनाने की, ध्यान के समय उन सभी विचारों और गतियों को अस्वीकार करने की जो साधना के लिए विजातीय हों। शान्त मन में अनुभूति को पाने के लिए प्रगतिशील तैयारी होती रहेगी। लेकिन अगर सब कुछ एकसाथ न हो तो तुम्हें कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये; मन में पूर्ण शान्ति लाने में समय लगता है; तुम्हें तब तक प्रयास करते रहना होगा जब तक कि चेतना तैयार नहीं हो जाती।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०६

कृपा तथा सुरक्षा हमेशा तुम्हारे साथ रहती हैं। किसी भी आन्तरिक या बाहरी कठिनाई या कष्ट को अपने ऊपर हावी मत होने दो; रक्षक 'भागवत शक्ति' की शरण में जाओ। अगर तुम हमेशा इसे श्रद्धा और सच्चाई के साथ करो तो तुम अपने अन्दर किसी चीज को खुलते हुए देखोगे जो सभी सतही विक्षुब्धताओं के बावजूद हमेशा शान्त तथा अचञ्चल बनी रहेगी।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ७२४-२५

इस योग की पद्धति

इस योग में इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं है कि साधक अपनी चेतना को एकाग्र करे, विशेषकर हृदय में, और माताजी की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वे उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले लें और अपनी शक्ति की क्रियाओं के द्वारा उसकी चेतना को रूपान्तरित करें। कोई चाहे तो अपने मस्तक में या भृकुटि के बीच भी चेतना को एकाग्र कर सकता है, परन्तु अधिकतर लोगों के लिए इस तरह आत्मोद्घाटन करना अत्यन्त कठिन होता है। जब मन शान्त-स्थिर हो जाता है और एकाग्रता दृढ़ तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है तब अनुभूति का होना आरम्भ हो जाता है। श्रद्धा जितनी अधिक होती है उतनी ही शीघ्रता से परिणाम भी प्राप्त होने की सम्भावना हो जाती है। बाकी चीजों के लिए साधक को केवल अपने ही प्रयास पर नहीं निर्भर करना चाहिये, बल्कि भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा माताजी की 'शक्ति' और 'उपस्थिति' को ग्रहण करने में सफल होना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०७

श्रद्धा तथा विरोधी शक्तियां

तुम्हें हमेशा यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि निम्न प्रकृति उभरने की चाहे जितनी कोशिश करे, चाहे जितने विरोधी प्रहार हों, विजय तुम्हारी ही होगी और रूपान्तर सुनिश्चित है।

'प्रकाश' की विजय में दृढ़ विश्वास रखो और जड़-भौतिक के प्रतिरोधों तथा स्वयं मानव व्यक्तित्व के रूपान्तर के प्रतिरोध का सामना शान्त समचित्तता के साथ करो।

भले बहुत ज्यादा अन्धकार हो—और यह जगत् उससे भरा हुआ है, मनुष्य का भौतिक मन भी उससे लबालब है—फिर भी अन्ततोगत्वा सच्चे प्रकाश की एक किरण, दसगुने अन्धकार पर भी विजय पा सकती है। इस पर विश्वास रखो और हमेशा इसी से चिपके रहो।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०२

गुरु में विश्वास

आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक से पूरी तरह लाभ उठाने के लिए शिष्य को तीन शर्तों को निभाना होता है।

पहली : उसे किसी भी विरोधी या किसी भी दूसरे के प्रभाव की अधीनता स्वीकार किये बिना, केवल और पूरी तरह सिर्फ अपने गुरु को ही स्वीकारना चाहिये।

दूसरी : अपने गुरु के द्वारा दिये गये संकेतों को उसे स्वीकारना चाहिये और अपनी आध्यात्मिक क्षमता के द्वारा सर्वोत्तम रूप से, पूरी श्रद्धा तथा लगन के साथ उनका अनुसरण करना चाहिये।

तीसरी : उसे स्वयं को उद्‌घाटित करना होगा, ग्रहणशील बनना होगा, ताकि गुरु उसके अन्दर की आध्यात्मिक चेतना, ज्ञान, प्रकाश, शक्ति को विकसित कर सकें और वह उन गुणों के प्रति सचेतन बन कर उन्हें प्रकट कर सके। गुरु के द्वारा दिये गये ज्ञान के द्वारा साधक को अपनी चेतना तथा अपने अन्दर की दिव्य प्रकृति तथा सम्भावना को बढ़ाना होगा ताकि वह दिव्यता के चरण पखार सके।

गुरु साधक के लिए जो कर सकते हैं वह किसी तरीके, नियम या साधना पर नहीं बल्कि साधक की ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है। साधक की चेतना की कुछ आन्तरिक अवस्थाएं या मनोवृत्तियां ग्रहणशीलता को बढ़ा सकती हैं—उदाहरण के लिए, गुरु के प्रति विनम्रता, भक्ति, आज्ञाकारिता, विश्वास, उनके प्रभाव के प्रति सकारात्मक ग्रहणशीलता। इनसे उलटी चीजें हैं—स्वच्छन्दता, छिद्रान्वेषी मनोवृत्ति, केवल सन्देहास्पद प्रश्नों की बौछार, यानी, उनके बताये मार्ग पर न चलना और गुरु के लिए यह अनिवार्य बना देना कि वे केवल अप्रत्यक्ष रूप में या परदे के पीछे से ही सहायता करें। लेकिन मुख्य चीज है कि साधक की चेतना में एक तरह का आन्तरिक उद्‌घाटन हो जाये और वह होता है या उसे विकसित किया जा सकता है उसे पाने के संकल्प तथा सही मनोभाव के अपनाने से ही। अगर वह हो तो गुरु से कुछ खींचने की आवश्यकता नहीं होती, बस चुपचाप उनसे ग्रहण करना होता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९०-९१

अन्तरात्मा का सूर्यालोकित पथ

सूर्यालोकित पथ का अनुसरण तभी किया जा सकता है जब चैत्य सतत रूप से या प्राय: ही सम्मुख रहे या व्यक्ति के अन्दर सहज श्रद्धा और समर्पण के भाव हों या अभ्यासवश वह सूर्य की ओर मुड़ा रहे या पहले से ही उसके अन्दर चैत्य प्रवृत्ति हो (उदाहरण के लिए, उसके अन्दर अपनी आध्यात्मिक नियति के प्रति श्रद्धा हो) अथवा वह चैत्य मोड़ पर मुड़ गया हो। इसका यह मतलब नहीं है कि सूर्यालोकित मनुष्य को किन्हीं भी मुश्किलों का सामना नहीं करना पड़ता; उसके रास्ते में बहुतेरी कठिनाइयां आती हैं, लेकिन वह खुशी-खुशी उनसे निबटता है; "यह तो दैनन्दिन मामला है" मान कर वह पथ पर बढ़ता रहता है। अगर वह जीवन से बुरी तरह पिट गया हो तो सम्भव है कि वह कहे, "कैसी अजीब बात है, निश्चय ही भगवान् का मिज़ाज भी अजीब है इन दिनों, और अगर कार्य करने का उनका यही तरीका है, तो निस्सन्देह यही तरीका ठीक होगा; निश्चित रूप से मैं ही अब तक सुधरा नहीं हूं और मेरे ख्याल से मुझे सही राह पर लाने के लिए यही एकमात्र तरीका है।" लेकिन प्रत्येक यह मनोभाव नहीं अपना सकता, यह समर्पण नहीं कर सकता कि चारों तरफ से कठिनाइयों से घिरे होने के बावजूद हंसते-हंसते यह कह सके कि यही ठीक है। यही कारण है कि हम एक साथ पूर्ण समर्पण पर जोर नहीं देते, बल्कि आरम्भ करने के लिए थोड़े-से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और बाकी यथासम्भव धीरे-धीरे होता रहता है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ६१८

'नाम' की शक्ति एवं संरक्षण के विषय में तुम्हें जो अनुभव हुआ वह ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है जिसने ऐसी ही श्रद्धा और निर्भरता के साथ इसका प्रयोग किया है। जो लोग संरक्षण के लिए हृदय से पुकारते हैं उन्हें वह कभी निराश कर ही नहीं सकती। किसी भी बाहरी परिस्थिति को तुम अपनी श्रद्धा को विचलित मत करने दो; क्योंकि सब कुछ को पार कर लक्ष्य तक पहुंचने के लिए इस श्रद्धा से बढ़ कर अधिक बल और कोई चीज नहीं देती। ज्ञान और तपस्या का कुछ भी बल क्यों न हो, उनमें धारक शक्ति इससे कम ही होती है—श्रद्धा यात्रा के लिए सबसे मजबूत सहारा है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ३०८

भागवत कार्यशैली

... इस पथ के लिए अपेक्षित श्रद्धा, समर्पण और साहस अहंभावाच्छन्न आत्मा के लिए आसान नहीं होते। दिव्य क्रिया कोई वैसी क्रिया नहीं है जिसे अहंकारी मन चाहता या स्वीकार करता है। वह तो सत्य पर पहुंचने के लिए भ्रान्ति को, आनन्द पर पहुंचने के लिए दु:ख को और पूर्णता पर पहुंचने के लिए अपूर्णता को काम में लाती है। अहंकार यह नहीं देख पाता कि वह किधर ले जाया जा रहा है; वह मार्गदर्शन के विरुद्ध विद्रोह करता है, विश्वास खो देता है, साहस छोड़ बैठता है। यदि केवल यही दुर्बलताएं होतीं तो कोई बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि हमारे अन्त:स्थ दिव्य 'मार्गदर्शक' हमारे विद्रोह से रुष्ट नहीं होते, न तो वे हमारी श्रद्धा की कमी से निरुत्साहित होते हैं और न हमारी दुर्बलता के कारण उदासीन ही हो जाते हैं। उनमें माता का समस्त वात्सल्य और गुरु का अखण्ड धैर्य है। परन्तु, उनके नेतृत्व से अपनी अनुमति हटा लेने के कारण, हम सचेतन रूप में उसका लाभ नहीं उठा पाते, यद्यपि वह लाभ किसी अंश में फिर भी प्राप्त होता है और उसका अन्तिम परिणाम तो किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होता। और, हम अपनी अनुमति इसलिए हटा लेते हैं कि जिस निम्नतर सत्ता में से वे अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तैयार कर रहे हैं उसमें और उच्चतर आत्मा में हम विवेक नहीं कर पाते। जैसे हम संसार में ईश्वर को नहीं देख पाते वैसे ही हम अपने अन्दर भी ईश्वर को देखने में असमर्थ होते हैं; कारण, उनकी कार्यशैलियां ही ऐसी हैं। हम उन्हें इसलिए भी नहीं देख पाते कि वे हमारे अन्दर हमारी प्रकृति के द्वारा ही काम करते हैं न कि एक के बाद एक मनमाने चमत्कारों से। मनुष्य चमत्कारों की मांग करता है जिससे वह विश्वास कर सके; वह चकाचौंध हो जाना चाहता है, ताकि वह देख सके। परन्तु हमारी यह अधीरता और अज्ञान महान् भय और संकट का रूप धारण कर सकते हैं यदि, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति विद्रोह के भाव में, हम किसी अन्य विकारजनक शक्ति को, जो हमारे आवेगों और कामनाओं के लिए अधिक सन्तोषकारक होती है, अपने अन्दर बुला लें, उससे अपना पथ-प्रदर्शन करने को कहें और उसे ही भगवान् मान बैठें।

CWSA खण्ड २३, पृ. ६४

भगवान् हमारा हाथ हमेशा थामे रखते हैं, विश्वास रखो

बहुत सम्भवतः, उन कष्टप्रद अन्धकारमय कालों में से बहुत-से हमारे जीवन में आयेंगे जिनके विषय में वैदिक ऋषि भी कितनी ही बार इन शब्दों में शिकायत करते थे कि ये "प्रकाश से बारम्बार सुदीर्घ निर्वासन" के काल हैं, और इन कालों में अन्धकार इतना घना हो सकता है, अन्तरात्मा पर छाने वाली रात्रि इतनी काली हो सकती है मानों श्रद्धा हमें बिलकुल ही छोड़ कर चली गयी हो। किन्तु इस सबके बावजूद हमारी अन्तःस्थ आत्मा अपना अदृष्ट नियन्त्रण हमेशा रखे रहेगी और अन्तरात्मा अपने विश्वास पर नयी शक्ति के साथ लौट आयेगी, उस विश्वास पर जिसे केवल ग्रहण लगा था, पर जो बुझा नहीं था, क्योंकि जब एक बार अन्तरात्मा अपने आन्तरिक श्रद्धा-विश्वास को जान चुकती है तथा अपना दृढ़ निश्चय कर लेती है तब वह विश्वास बुझ ही नहीं सकता। भगवान् सभी अवस्थाओं के बीच हमारा हाथ थामे रखते हैं और यदि ऐसा दिखायी दे कि वे हमें गिरने दे रहे हैं तो यह हमें अधिक ऊंचे उठाने के लिए ही होता है। अन्तरात्मा का अपने श्रद्धा-विश्वास की ओर यह रक्षाकारी प्रत्यावर्तन हमें इतनी अधिक बार अनुभव होगा कि सन्देहमूलक अविश्वासों का उत्पन्न होना अन्त में असम्भव हो जायेगा और, जब एक बार समता की आधारशिला दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायेगी और, इससे भी बढ़ कर, जब विज्ञान-चेतना का सूर्य उदित हो जायेगा तब स्वयं सन्देह भी नष्ट हो जायेगा क्योंकि उसका कारण और प्रयोजन समाप्त हो चुके होंगे।...

इसके साथ ही यह सदा स्मरण रखना होगा कि हम अपूर्णता एवं अज्ञान से ज्योति और पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं, और हमारी श्रद्धा को हमारे प्रयत्न के बाह्य रूपों में तथा हमारी उपलब्धि की क्रमिक अवस्थाओं के प्रति आसक्ति से मुक्त होना चाहिये। इतना ही नहीं कि हमारे अन्दर ऐसा बहुत कुछ है जिसे बाहर फेंकने तथा त्यागने के लिए प्रबल रूप से उभारा जायेगा, अर्थात् अज्ञान और निम्न प्रकृति की शक्तियों तथा उनका स्थान लेने वाली उच्चतर शक्तियों में एक संग्राम होगा; और साथ ही हमारे अन्दर ऐसे अनुभव भी हैं, चिन्तन और संवेदन की ऐसी अवस्थाएं तथा उपलब्धि के ऐसे रूप भी हैं जो सहायक होते हैं और जिन्हें मार्ग में स्वीकार करना ही होता है। वे हमें कुछ समय के लिए अन्तिम आध्यात्मिक सत्य प्रतीत

हो सकते हैं, पर बाद में संक्रमण के पद ही सिद्ध होते हैं, उन्हें अतिक्रम करना होता है और जो व्यावहारिक श्रद्धा उन्हें आश्रय देती थी उसे उनसे हटा लेना पड़ता है ताकि उसके द्वारा उन अन्य महत्तर वस्तुओं या अधिक पूर्ण एवं व्यापक साक्षात्कारों एवं अनुभवों का समर्थन किया जा सके, जो उनका स्थान ले लेते हैं या जिनके अन्दर, एक पूर्णताकारी रूपान्तर में, उन्हें उन्नीत कर दिया जाता है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७७५-७६

शक्ति तथा 'कृपा' के बारे में मैं जो कह रहा हूं उसमें समझ में न आने वाली कोई बात नहीं है। आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए शक्ति का मूल्य है, लेकिन यह कहना कि इसे और किसी तरीके से नहीं, केवल शक्ति के द्वारा ही पाया जा सकता है, उग्र अतिशयोक्ति है। कृपा कोई हस्तक्षेप नहीं है, वह आध्यात्मिक अनुभूति का एक तथ्य है। कई लोग जिन पर बुद्धिमान् और बलशाली "कुछ नहीं हैं" की मोहर लगा देते हैं वे 'कृपा' द्वारा जीवन में ऊपर उठा लिये जाते हैं; अनपढ़, मानसिक शक्ति या प्रशिक्षण से रहित, स्वभाव के "बल" या संकल्प-शक्ति से हीन मनुष्यों में भी अगर अभीप्सा की लौ जग जाती है तो देखा गया है कि अचानक या तेजी से वे आध्यात्मिक उपलब्धि पा लेते हैं, क्योंकि उनमें श्रद्धा थी, क्योंकि वे सच्चे थे। मेरी समझ में नहीं आता कि ये तथ्य, जो आध्यात्मिक इतिहास के तथ्य हैं—सामान्य आध्यात्मिक अनुभूति के—इन पर भला क्यों इस तरह चर्चा की जाये, इन्हें नकारा जाये या इन पर बहस की जाये मानों ये छानबीन करने-लायक विषय हैं! शक्ति —अगर वह आध्यात्मिक है—आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए बल है; उससे बड़ी शक्ति है निष्कपटता; सबसे बड़ी शक्ति है 'कृपा'। मैंने सैकड़ों बार कहा है कि अगर व्यक्ति सच्चा-निष्कपट हो, वह दीर्घ विलम्बों और अभिभूतकारी कठिनाइयों के बावजूद लक्ष्य तक पहुंच जायेगा। मैंने बार-बार 'भागवत-कृपा' के बारे में कहा है। मैंने न जाने कितनी ही बार *भगवद्गीता* की इन पंक्तियों का उल्लेख किया है :

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

"मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत कर।"

CWSA खण्ड २९, पृ. १७२

'पुरोधा':

दैनन्दिनी

जून

१. भगवान् के लिए स्नेह : एक मधुर, विश्वासपूर्ण कोमलता जो अपने-आपको अविरत रूप से भगवान् के अर्पण करती है।

२. जीवन सत्य और मिथ्यात्व के बीच, प्रकाश और अन्धकार, प्रगति और अवनति, ऊंचाइयों की ओर आरोहण या रसातल में पतन के बीच निरन्तर चुनाव है। हर एक आजादी से चुन सकता है।

३. पहले आती है बौद्धिक वृत्ति, और अभ्यास थोड़ा-थोड़ा करके बाद में आता है। जो चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है वह है, जिसे तुम सत्य समझते हो उसे जीने और वही होने के संकल्प को बहुत जाग्रत् बनाये रखना; तब रुकना असम्भव होगा और पीछे गिरना तो और भी असम्भव।

४. सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक नियति है और वह उनके दृढ़ निश्चय के अनुसार दूर या नजदीक होती है।
तुम्हें पूरी सच्चाई के साथ संकल्प करना चाहिये।

५. सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम अपना यन्त्रवत् उपयोग करने देने के लिए किस शक्ति को चुनते हो। और यह चुनाव तुम्हें जीवन के हर क्षण करना होता है।

६. तुम्हारे अन्दर जो चीज साधारण जीवन से आसक्त है और जो भागवत जीवन के लिए अभीप्सा करती है, उन दोनों के बीच संघर्ष है। यह तुम्हें देखना है कि जो चीज तुम्हारे अन्दर प्रबल हो उसे चुनो और उसके अनुसार कार्य करो।

७. शिखरों तक चढ़ना ही जिनकी नियति है उनके लिए जरा-सा गलत कदम भी सांघातिक संकट हो सकता है।

८. इसे एक साहस-कार्य कहा जा सकता है क्योंकि पहली बार किसी योग ने भौतिक जीवन से निकल भागने की जगह उसे रूपान्तरित करने और दिव्य बनाने का लक्ष्य अपनाया है।

९. ... तुम जो कार्य करते हो उसकी अपेक्षा, तुम्हारे अन्दर जो चेतना है वह बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। और अगर सत्य-चेतना द्वारा क्रियाएं

की जायें तो सबसे अधिक निरर्थक दीखने वाली क्रियाएं भी बहुत सार्थक हो उठती हैं।

१०. सारा जीवन ही साधना है। उसे टुकड़ों में बांटना और यह कहना कि यह साधना है और यह नहीं, एक भूल है। तुम्हारा खाना और सोना भी साधना का अंग होना चाहिये।

११. किसी आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए संकल्प-शक्ति द्वारा आरोपित नियन्त्रण है तपस्या।

१२. आत्म-नियन्त्रण के बिना कोई जीवन सफल नहीं हो सकता।

१३. ... तुम मनुष्य बनना तभी शुरू करते हो जब तुम उच्चतर और सत्यतर जीवन के लिए अभीप्सा करते हो और रूपान्तर के नियन्त्रण को स्वीकार करते हो। और इसके लिए तुम्हें अपनी निम्न प्रकृति और उसकी कामनाओं पर प्रभुत्व पाने से आरम्भ करना चाहिये।

१४. एकाग्रता किसी प्रभाव को लक्ष्य नहीं बनाती, वह सरल और आग्रही होती है।

१५. जब तुम ध्यान में बैठो तो तुम्हें बालक की तरह निष्कपट और सरल होना चाहिये। तुम्हारा बाह्य मन बाधा न दे। तुम किसी चीज की आशा न करो, किसी चीज के लिए आग्रह न करो। एक बार यह स्थिति आ जाये तो बाकी सब तुम्हारी गहराइयों में स्थित अभीप्सा पर निर्भर है। और अगर तुम भगवान् को बुलाओ तो उनका उत्तर भी मिलेगा।

१६. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सुप्रसिद्ध और अजाने का कोई भी मूल्य नहीं है। गम्भीरतापूर्वक योग करने वाला एक आदमी एक हजार प्रसिद्ध लोगों से अधिक मूल्यवान् है।

१७. जो संसार में एकाकी अनुभव करते हैं वे भगवान् के साथ एक होने के लिए तैयार हैं।

१८. भगवान् के प्रति अपने समर्पण में सच्चे और सम्पूर्ण बनो तो तुम्हारा जीवन सामञ्जस्यपूर्ण और सुन्दर बन जायेगा।

१९. आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए अचल सच्चाई और निष्कपटता ही सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।

स्वांग मत करो, होओ।

वचन मत दो, करो।
सपने मत देखो, चरितार्थ करो।

२०. भगवान् हमेशा उनके साथी होते हैं जो उत्साही और सच्चे हैं।

२१. जो सच्चे हैं, मैं उनकी सहायता कर सकती हूं और उन्हें आसानी से भगवान् के प्रति मोड़ सकती हूं। लेकिन जहां कपट हो वहां मैं बहुत कम ही कर सकती हूं।

२२. जब तक व्यक्ति के अन्दर आन्तरिक द्वन्द्व की सम्भावना रहती है, तो इसका यह अर्थ होता है कि उसमें अब भी कुछ कपट है।

२३. अपने प्रति ईमानदार रहो—(आत्म-प्रवञ्चना नहीं)।
भगवान् के प्रति सच्चे रहो—(समर्पण में सौदेबाजी नहीं)।
मानवजाति के साथ सीधे रहो—(दिखावा और पाखण्ड नहीं)।

२४. स्वयं सच्चा बनने के लिए यह जरूरी नहीं है कि तुम औरों के सच्चा बनने का इन्तजार करो।

२५. अभीप्सा हमेशा अच्छी है, अगर कोई मांग उसमें मिला दी जाये तो विश्वास रखो कि वह कभी स्वीकृत न होगी।

२६. हमें हर रोज सभी भूलों, सभी अन्धकारों, सभी तरह के अज्ञान पर विजय पाने की अभीप्सा करनी चाहिये।

२७. सत्ता में सब कुछ मौन है, लेकिन नीरवता के वक्ष में वह दीपक जलता है जिसे कभी बुझाया नहीं जा सकता—वह उस तीव्र अभीप्सा की अग्नि है जो भगवान् को जानना और उन्हें सम्पूर्ण रूप से जीना चाहती है।

२८. अभीप्सा की लौ इतनी सीधी और इतनी तीव्र होनी चाहिये कि कोई बाधा उसे विलीन न कर सके।

२९. श्रद्धा एक निश्चिति है जिसके लिए जरूरी नहीं है कि वह अनुभव और ज्ञान पर आधारित हो।

३०. हर क्षण, सारा अप्रत्याशित, अनपेक्षित, अज्ञात हमारे सामने रहता है—और हमारे साथ जो कुछ होता है वह अधिकतर हमारी श्रद्धा की पवित्रता और तीव्रता पर निर्भर करता है।

एक साधक के साथ श्रीमां का पत्र-व्यवहार

(ये पत्र एक ऐसे साधक को लिखे गये थे जो उन्नीसवीं शती के तीस के दशक में श्रीअरविन्दाश्रम में दांतों के डॉक्टर थे और १९३८ से १९५० तक श्रीअरविन्द की व्यक्तिगत सेवा में रहे थे। पूरा पत्र-व्यवहार अंग्रेज़ी में हुआ था।)

मेरी प्यारी प्रेममयी मां,

जन्मदिन की मेरी कॉपी में श्रीअरविन्द ने लिखा है, "उच्चतर चेतना में उठो, उसकी ज्योति प्रकृति पर शासन और उसका रूपान्तर करे।" कुछ समय पहले आपने मुझे लिखा था, "उच्चतर चेतना की ओर, जहां सभी समस्याएं हल हो जाती हैं, एक अच्छी छलांग, और तुम अपनी कठिनाइयों से पार निकल जाओगे।" तो यह उच्चतर चेतना क्या चीज है और मैं उसकी ओर कैसे उठ सकता या छलांग लगा सकता हूं? और फिर आपने कहा है, "भागवत प्रेम तुम्हारा लक्ष्य हो। शुद्ध प्रेम तुम्हारा मार्ग हो, अपने प्रेम की ओर सदा सच्चे रहो और तुम सभी कठिनाइयों पर विजय पा लोगे।" क्या यह उच्चतर चेतना वही चीज है जो शुद्ध प्रेम की अवस्था है, अगर ऐसा है तो उसका उच्चतर ज्ञान की स्थिति से क्या सम्बन्ध होगा?

उच्चतर चेतना शुद्ध प्रेम की अवस्था है लेकिन साथ ही वह भागवत ज्ञान की ओर शुद्ध उद्घाटन भी है। वहां इन दो सजातीय चीजों में कोई विरोध नहीं है; मन ही इन्हें अलग करता है।

वहां तक पहुंचने का सबसे अच्छा तरीका है कि जब कभी मानसिक हलचल आये, प्राणिक कामनाएं और उथल-पुथल आयें तो उन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर दो और मन तथा हृदय को जहां तक हो सके सतत भगवान् की ओर मुड़ा हुआ रखो। यह करने के लिए भगवान् के लिए प्रेम सबसे अधिक बलवान् शक्ति है।

१९ अक्तूबर १९३९

प्रिय मां!

माताजी ने अपने आवास के लिए ऐसे दुर्बल पात्र को क्यों चुना?

मैं जानता हूं कि जब तक वे यहां अपना निवास-स्थान बनाना चाहती हैं, देर या सवेर मुझ गरीब को महामहिम के लिए गद्दी छोड़नी ही पड़ेगी और जब तक वह दिन न आ जाये मुझ बेचारे को चैन न मिलेगा।

मेरे प्यारे बालक,

अतः, सबसे अच्छी बात है तुरन्त अपदस्थ होकर चैन, शान्ति और आनन्द पा लेना। जब तुम्हें किसी हठीले प्रतिरोध से पिण्ड छुड़ाना हो तो तुम्हें देर न लगानी चाहिये, जैसे रुग्ण दांत को निकाल फेंकने में देर नहीं लगायी जा सकती। अन्दर, बाहर और सब जगह, माताजी की सहायता है... उनके प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२८ अक्तूबर १९३९

प्यारी मां,

मुझ गरीब के लिए आपका प्यार अब भी मेरा ध्रुवतारा है और मैं उसके लिए कृतज्ञ हूं।

मेरे प्यारे बालक,

मेरा प्रेम तुम्हें लक्ष्य तक ले जाना चाहता है और उसकी विजय निश्चित है। मेरे आशीर्वाद के साथ।

२९ मार्च १९४०

प्यारी मां,

मैं आपकी मेहरबानी, अनुकम्पा, शुभेच्छा और प्रेम के लिए बहुत धन्यवाद देता हूं जिनका मैं अधिकारी नहीं हूं। और यद्यपि मैं आपके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध का अनुभव करता हूं, जो मैं आशा करता हूं कि चैत्य सम्बन्ध है, फिर भी मुझे नहीं लगता कि मैं इस योग की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव करता हूं। आज भी मैं इस आदर्श के बारे में उस तरह अनुभव नहीं करता जैसे पहले मोक्ष के आदर्श के लिए अनुभव करता था। अभी तक आपका पथ, वह आदर्श जिसे आप हमारे आगे रखती हैं, आपके मूल्य, आज भी मुझे अछूता छोड़ देते हैं; मुझे अभी तक यहां अपनेपन का अनुभव नहीं होता। मैं नहीं

जानता कि मुझे क्या करना चाहिये। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। क्षमा कीजिये, मैं अपनी सारी बाहरी सत्ता के विरुद्ध सदा लड़ते-लड़ते थक गया हूं, और फिर मुझे लगता है कि अब सारी चीज को दुबारा शुरू करने के लिए और अपने-आपको एक नये आदर्श की मांग करना सिखाने के लिए बहुत देर हो चुकी है, उस मार्ग की प्राप्ति कहीं नजदीक दिखायी नहीं देती।

भगवान् ने हम सबके लिए जो कुछ नियत कर दिया है, **वही** होगा।

मेरे प्यारे बालक को प्रेम और आशीर्वाद।

२९ जून १९४०

मेरे २२ जुलाई[१] के पत्र के उत्तर में आपने मुझे आश्वासन देने की कोशिश की है पर उसने मुझे आश्वासन नहीं दिया। ऐसा क्यों हुआ मां, शायद आपको मेरा लहजा पसन्द नहीं आया, शायद आप मेरी अक्षमता से असन्तुष्ट हैं, हो सकता है कि आप मुझसे पूरी तरह थकती जा रही हैं। अगर ऐसा है तो मुझे आश्चर्य न होगा, मैं आपको दोष न दूंगा क्योंकि स्वयं मैं उस समस्या से तंग आ गया हूं जिसे कहते हैं "मैं"।

जैसा कि आपने मुझे आश्वासन दिया है, अगर इससे आपके प्रेम और दयालुता में कोई फर्क नहीं पड़ता तो मैं इस धन को रखना चाहूंगा और इस व्यवस्था को जारी रखूंगा। लेकिन आपको पसन्द न हो तो कृपया ऐसे शब्दों में कहिये जिन्हें मैं समझ सकूं और मैं इसे छोड़ दूंगा। कृपया विश्वास रखिये कि अगर यह व्यवस्था आपको पसन्द न हो तो मैं इसे छोड़ सकता हूं।

मेरे प्यारे बालक,

इससे मैं जरा भी असन्तुष्ट नहीं हूं। तुमने उस दिन इस विषय में जो लिखा था उसका अगर मैंने उत्तर नहीं दिया था तो इसलिए कि मैंने इसे

[१] साधक ने इस पत्र में पूछा था कि क्या वह अपने रिश्तेदार द्वारा भेजे हुए रुपयों को स्वीकार कर सकता है। माताजी ने जवाब दिया, "मेरे प्यारे बालक, तुम मेरे प्यार और आशीर्वाद के बारे में विश्वास रखो।"

बहुत महत्त्व नहीं दिया। मेरे वाक्य का मतलब केवल इतना ही था कि मेरा प्रेम समझ सकता है और मेरे आशीर्वाद ऐसी सतही गतिविधियों पर निर्भर नहीं रहते। आज मैं इतना और जोड़ दूं कि मैं "मैं कहलाने वाली समस्या" से बिलकुल नहीं ऊबी हूं और मुझे विश्वास है कि उसका सफलता के साथ समाधान हो जायेगा...।

२५ जुलाई १९४०

मेरे प्यारे बालक,

जब कभी तुम्हें आध्यात्मिक सहायता की जरूरत हो मैं हमेशा तुम्हें वह सहायता देने को तैयार रहती हूं चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

९ सितम्बर १९४१

मेरे प्यारे बालक,

यह वर्ष तुम्हारे लिए सब परिस्थितियों में मुस्कुराने की शक्ति लेकर आये। मुस्कान कठिनाइयों पर उसी तरह क्रिया करती है जैसे सूर्य बादलों पर, वह उन्हें बिखेर देती है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ सितम्बर १९४२

मेरे प्यारे बालक,

यह रहा इस वर्ष का कार्यक्रम: अपनी समस्त सत्ता को अपनी उच्चतम चेतना के चारों ओर एकत्र करो और अपने मन को इधर-उधर न भटकने दो। सन्देह ऐसा खेल नहीं है जिसमें तुम सुरक्षा के साथ रस ले सको: वह एक विष है जो बूंद-बूंद करके आत्मा का क्षय करता है।

९ सितम्बर १९४३

भागवत कृपा मौजूद है—अपने द्वार खोलो और उसका स्वागत करो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ सितम्बर १९४४

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २४५-४९

खोज

हर दिन तुझको खोज रहा
हर पल तुझे पुकार रहा
इस आस में जीवन गुजार रहा
दया करो हे दयानिधान
कब होगा वह अनुभव महान्?
कब मिलेगा वह दिव्य ज्ञान?
कब मिलोगे तुम भगवान्?

घर-आंगन मैं बुहार रहा
रस्ते की ओर निहार रहा
जगह-जगह तुझको खोजूं
जगह-जगह मैं फिरता रहूं
मन्दिर ढूंढ़ा, मस्जिद ढूंढ़ी
छान लिया सारा श्मशान
कहां होगा वह अनुभव महान्?
कहां मिलेगा वह दिव्य ज्ञान?
कहां मिलोगे तुम भगवान्?

तप ना जानूं, जप ना जानूं
ना मैं जोग-बैराग ही जानूं
कर्म करूं अपने मतलब का
व्रत करना भी मैं ना जानूं
ज्ञानी नहीं मैं तो मूरख हूं
कैसे हो वह अनुभव महान्
कैसे मिले वह दिव्य ज्ञान
कैसे मिलोगे तुम भगवान्?

ईश्वर का प्रत्युत्तर :

बच्चों की मुस्कानों में
झंकृत वीणा की तानों में

कल-कल करती इन नदियों में
प्रकृति की इन वादियों में
उन्नत, उज्ज्वल आदर्शों में
अभीप्सा की गहराई में
खोज सको तो खोज लो तुम
पहचान सको तो जान लो तुम
हो सकता है तुम्हें वह अनुभव महान्
पा सकते हो तुम वह दिव्य ज्ञान
मिल सकते हैं तुम्हें भगवान्

दया-भाव की नजरों में,
जीव-मात्र की सेवा में
दुखियारी के आशीषों में
भीतर की नीरवता में
सूरज की अरुणाई में
प्रातः की तरुणाई में
निःस्वार्थ भाव के कर्मों में
नटखट, चञ्चल बाल-मन में
हो सकता है तुम्हें वह अनुभव महान्
पा सकते हो तुम वह दिव्य ज्ञान
मिल सकते हैं तुम्हें भगवान्

तीव्र, प्रज्वलित अभीप्सा हो तब
हृदय में पूर्ण सच्चाई हो तब
ईश-मिलन की उत्कण्ठा हो तब
समयातीत धैर्य हो तब
हो सकता है तुम्हें वह अनुभव महान्
पा सकते हो तुम वह दिव्य ज्ञान
मिल सकते हैं तुम्हें भगवान्

याद रखो मैं साथ तेरे,
जीवन की हर शिक्षा में
हर पल हूं मैं समीप तेरे,

सुख-दुःख की इस परीक्षा में
तेरा चलना है मेरी प्रदक्षिणा,
तेरा भोजन है मेरा भोग
हर कर्म तेरा मेरी पूजा
हर सांस तेरी मेरा बन्धन
मुझमें ही है अस्तित्व तेरा
मुझमें तेरे जीवन की गति
इस ब्रह्माण्ड का मूल हूं मैं
शुरुआत हूं मैं और अन्त हूं मैं
हर शरीर का प्राण हूं मैं
हर मन का तो विचार हूं मैं
प्राण में निहित शक्ति हूं मैं
सृष्टि की अनवरत गति हूं मैं
काल हूं मैं, महाकाल हूं मैं
सकल जगत् का सवाल हूं मैं
मैं ही अग्नि, मैं ही पानी
हर रहस्य की मैं ही कहानी
सोच सको तो सोच लो तुम
बूझ सको तो बूझ लो तुम
कैसी है यह मेरी रचना
है कितनी दिव्य यह संरचना
गुण-अवगुण की मैं परिभाषा
मैं ही आशा, मैं ही निराशा
अजन्मा और अविनाशी हूं
कण-कण का मैं वासी हूं
सर्वस्व करो तुम आज अर्पण
बस आ जाओ तुम मेरी शरण
अन्तरतम से उठे पुकार
परम लक्ष्य जानो इस बार
चलो करें उनका वन्दन,

करें उनका हम अभिनन्दन।
कृतज्ञता के दो फूल चढ़ायें,
चलो जीवन को दिव्य बनायें।।

—चन्दन
श्रीअरविन्द सोसायटी स्कूल
जोधपुर

दुःख-दर्द को पोसो मत

संसार में दुःखी कौन नहीं है? ऋषि, मुनि, पीर, पैगम्बर, धनी, गरीब, सभी को कुछ-न-कुछ दुःख लगा रहता है। दुःख अनेक प्रकार का होता है और उसे दूर करने का उपाय भी एक नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रों ने बताया है कि "सारा संसार आनन्द से भरा हुआ है, आनन्द आकाश की तरह सब जगह मौजूद है। अगर आनन्द न होता तो हमारे लिए सांस लेना तक असम्भव होता। जो कुछ है, सब आनन्द से ही उत्पन्न हुआ है, आनन्द में ही स्थित है और आनन्द में ही मिल जायेगा।" आधुनिक विज्ञान भी यह मानने लगा है कि सारी सृष्टि एक ही तत्त्व से उत्पन्न हुई है जिसके बारे में अभी उन्हें यह पता नहीं है कि वह पदार्थ है अथवा ऊर्जा। परन्तु हमने तो यही सीखा है कि सारी सृष्टि उस 'एक' ने ही बनायी है जो सत् है, चित् है और आनन्द है। उसने सारी सृष्टि में अपने ही अनेकों रूपों को व्यक्त किया है और सब कुछ उसी की प्रच्छन्न सम्भावनाओं का खेल है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि अगर सृष्टि के मूल में ही आनन्द है तो फिर पाप और दुःख कहां से आये? श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमारे अस्तित्व के अन्दर ही आनन्द छिपा हुआ है, आनन्द ही हमारी प्रकृति की स्वाभाविक अवस्था है। दुःख-दर्द अस्वाभाविक और सामयिक अवस्थाएं होती हैं जो हमारी स्वाभाविक अवस्था को छिपा देती हैं और यही कारण है कि हम कभी स्वाभाविक आनन्द को अनुभव नहीं करते और उसके क्षणिक अभाव को इतना अधिक महत्त्व देते हैं। हवा हमारे लिए स्वाभाविक है, हम दिन में कितनी बार उसके बारे में सोचते हैं? सिर्फ तभी जब वह रुक जाये या बहुत अधिक ठण्डी या गरम हो जाये। सूर्य हमारे यहां

नियमित रूप से दर्शन देता है, हमारा ध्यान उसकी ओर तभी खिंचता है जब उसे ग्रहण लगे या बादल उसे छिपा लें। इसी भांति जब हमारे स्वभावगत आनन्द को ठेस लगती है तो हम चौंक पड़ते हैं और दुःख-दर्द का अनुभव करते हैं। लेकिन हमारा प्रश्न फिर भी बना रहता है कि आनन्द के होते हुए दुःख-दर्द आता कहां से है और इसे हटाने का उपाय क्या है? वह कौन-सा राहु है जो हमारे जीवन के आलोक को बार-बार अन्धकार में बदल देता है? हमारा स्वभाव बन गया है कि अमुक क्रिया हो तो हमें दुःख होता है, अमुक क्रिया हो तो हमें अच्छा लगता है। यह चीज बड़ी हद तक सामूहिक मानस और सामान्य रीति-रिवाज और आदतों पर निर्भर करती है। हमारे एक मित्र की छोटी-सी लड़की थी, उसे यह शिक्षा दी गयी कि जब कभी वह गिर पड़ती है तो उसके गिरने से धरती को चोट लगती है। परिणामस्वरूप गिरने पर रोने की जगह वह छोटी-सी बालिका धरती को सहलाने और पुचकारने लगती थी और अपने दर्द का उसे भान तक न होता था। हमारे यहां की सर्दियों में भी यूरोप से आये हुए लोगों को गर्मी लगती है। अफीम-संखिया आदि बड़े घातक विष हैं पर ऐसे भी लोग हैं जो इनके बिना जीवित नहीं रह सकते। मृत्यु सबसे अधिक कष्ट देने वाली चीज है पर हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि जब क्रान्तिकारी युवकों को मृत्युदण्ड सुनाया जाता था तो वे बड़े प्रसन्न होते थे और उनका वज़न बढ़ जाता था। नयी-नवेली दुलहिनें अपने हाथ से अपने पति की कमर में तलवार बांध कर उन्हें देशभूमि पर मर-मिटने के लिए रण में भेज देती थीं। इन उदाहरणों से यही प्रतीत होता है कि हमारा स्नायुमण्डल एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रियाओं के लिए अभ्यस्त होता है। अगर हम किसी तरह क्षणिक अथवा स्थायी रूप में इस अभ्यास को बदल सकें तो प्रतिक्रिया भी एकदम बदल जाती है। दक्षिण भारत में किन्हीं उत्सवों के समय आग पर चलने की प्रथा है, कई डॉक्टर सम्मोहन यानी 'हिप्नोटिज़म' के द्वारा शल्य-क्रिया करते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि दुःख-सुख स्नायुओं की प्रतिक्रियाएं हैं, अथवा प्राण के रुद्ध होने या मन के रूठ जाने के परिणाम होते हैं। हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य—नहीं, एकमात्र लक्ष्य है भगवान् की चेतना को यहां प्रकट करना। इस मार्ग में जो चीजें बाधक होती हैं उन्हें हटाना आवश्यक है।

दुःख-दर्द आदि हमारी कमजोरियों की ओर, हमारी चेतना अथवा हमारे शरीर की त्रुटियों की ओर संकेत करते हैं। अगर हम इन अवसरों का लाभ उठा कर अपने अन्दर की त्रुटियों को निकाल सकें तो एक सुनिश्चित प्रगति हो जाती है और हम कुछ ऊपर उठ पाते हैं। हमें जब कभी कोई कष्ट होता है—चाहे वह शरीर, मन, प्राण कहीं भी क्यों न हो—तो वह इस बात का सूचक है कि हमारे अन्दर होने वाली प्रगति के पथ में कोई रोड़ा अटका रहा है। अगर हम इस अवसर का लाभ उठा कर धीरज और अध्यवसाय के साथ भागवत चेतना का आवाहन करें तो हम देखेंगे कि रास्ते की बाधाएं अपने-आप हटती जाती हैं और जो कष्ट हमारे जीवन को दूभर बनाये दे रहा था वह प्रगति की सीढ़ी बन गया है।

हमें कष्ट, रोग, दुःख आदि का स्वागत नहीं करना चाहिये। ये हमारी आंखें खोलने में सहायक होते हुए भी वाञ्छनीय नहीं हैं। इनके अतिरिक्त और भी मार्ग हैं जिनसे हम भगवान् की ओर खुल सकते हैं। परन्तु जब ये सिर पर आ ही जायें तो इनका सदुपयोग करना चाहिये। चाहे जितनी बड़ी विपदा हो, वह प्रगति के लिए सदा सहायक हो सकती है। उसके आने पर रोने-बिलखने की जगह, विधाता को कोसने की जगह, अगर हम अपने-आपको सन्मार्ग पर ला सकें तो दुःख-दर्द एक स्वप्न रह जायेंगे।

'पुरोधा', अक्तूबर ६५ से —स्व. रवीन्द्रजी

मंगल प्रभात

सूरज ढलने जा रहा था। उसने मुस्कुराते हुए क्षितिज के पास एक लिखित उलाहना सौंपते हुए कहा—"दिन-भर आपको धूप दी। आपके पुत्र-पौत्रों-सन्ततियों को प्रकाश एवं ऊर्जा प्रदान की, और आप हैं कि मुझे थोड़ी देर में ही विदा कर रहे हैं। थोड़ी देर और ठहर जाने देते। इसमें आपका क्या बिगड़ जाता।"

गम्भीर क्षितिज स्याही लेकर उत्तर लिखने बैठा तो एक पंक्ति ही लिख पाया, जिसे प्रातः के प्रकाश में सूर्य ने पढ़ा, लिखा था—"इसलिए कि तुम हर प्रातः एक नयी चमक, रोशनी, आभा व उल्लास के साथ आओ और पहले से भी अधिक प्रकाश फैलाओ।" सूर्य का मस्तक श्रद्धा से झुक गया।

—'अखण्ड ज्योति' से साभार

कम्बल ही सर्वस्व था

एक फकीर के पास एक कम्बल था। एक चोर ने फकीर का वह कम्बल चुरा लिया। फकीर इस चोरी से परेशान होकर पास के थाने में गया। उसने वहां थानेदार को चोरी गयी चीजों की एक लम्बी सूची लिखा दी। उसने अपनी रपट में लिखाया—उसकी रजाई, गद्दा, मसनद, छतरी, पाजामा, कोट और अनेक चीजें खो गयी हैं।

फकीर द्वारा लिखायी हुई चोरी गयी चीजों की लम्बी फेहरिस्त की बात सुन कर चोर को गुस्सा आ गया। वह उसका कम्बल लेकर थानेदार के सामने आ पहुंचा। कम्बल सामने पटक कर वह चोर बोला—"जनाब, यही फकीर का फटा-पुराना कम्बल है और इसी की चोरी किये जाने पर यह फकीर लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त लिखा गया है—उसने दुनिया-भर की चीजें गुम हो जाने की शिकायत की है।"

फकीर ने तेजी से अपना फटा-पुराना कम्बल उठाया और वहां से छूमन्तर होना ही चाहता था कि थानेदार ने उसे रोका और झूठी रपट लिखाने के लिए फकीर को सख्त-सुस्त कहा।

फकीर ने जवाब में कहा—"नहीं, नहीं, मैंने कोई झूठी शिकायत नहीं लिखायी। यह कम्बल आप सबके लिए बेकार की चीज होगी, पर मेरे लिए तो यही गद्दा है, यही रजाई, यही मसनद और छाता है, यही मेरा पाजामा है और यही मेरा कोट। यही मेरी एकमात्र दौलत या जायदाद है।" उसने कम्बल का हर प्रयोग कर थानेदार और चोर को बता दिया कि उसकी बात में सच्चाई थी। वह कम्बल ही उसका सर्वस्व था।

सचमुच फकीरों और सन्तों के लिए एकमात्र भगवान् ही उनका सर्वस्व होता है।

प्रस्तुति : नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

वे हलका-सा मुस्कुरा दिये...

(हृदय में पैठ जाने वाली, पुरोधा में छपी पुरानी कहानियों को दोबारा परोसने का जुनून ही सम्पादिका को उन्हें पाठकों तक पहुंचाने के लिए उकसाता रहता है।

शायद यह कहना भी सही है कि ऐसी कहानियां कभी फीकी नहीं पड़तीं। अस्तु... सं.)

मैं अपने जीवन के सत्तर से अधिक वसन्त देख चुकी हूं और चढ़ चुकी हूं कई-कई बार सुख और दुःख की नाव पर; और कभी-कभी मैं भी औरों की तरह प्रभु को अजीब ही समझ बैठती हूं—जब आदमी सुख-सागर में गोते लगाता है तो बहुधा वह ईश्वर उसे दुःख के थपेड़ों से क्यों पछाड़ देता है भला? छोटी थी तो अलग बात थी। अपने ईश्वर, उन्हीं यीशु से कई बार बातें किया करती थी। चीजें मेरे मन-माफिक होतीं तो उन पर लाड़ जताती, उलटी होतीं तो उन पर खीज उतारती, ज्यादा बुरी होतीं तो उन्हें डांटने-फटकारने से भी नहीं चूकती। और जब-जब ऐसा करती, सलीब पर चढ़ी वह मूरत अपनी अनुकम्पा-भरी दृष्टि से मानों मुझसे कहती—"अरी बच्ची, तुझे तो मैं हर वक्त थामे रहता हूं, इन जरा-जरा-सी ठोकरों से इतनी परेशान न हुआ कर...।" यह सुनते ही मेरा सारा गुस्सा, सारी कड़वाहट एक मुस्कान में बदल जाती और मैं झट यीशु के चरण चूम अपने खेल में रच-बस जाती। घर में कभी किसी को यह सब बताने की जरूरत ही न समझी, क्योंकि मैं तो यही सोचती और देखती भी थी कि सभी अपनी-अपनी समस्याएं सुलझाने हर इतवार गिरजाघर जाते ही हैं, लेकिन एक प्रश्न उस समय मेरी छोटी बुद्धि हमेशा किया करती थी—"भला ये सब हफ्ते भर की समस्याएं एक साथ जुटा कर क्यों लाते हैं यहां, मेरी तरह घर पर ही अपने यीशु के सामने रोज का मामला निपटा क्यों नहीं लेते?" लेकिन तब मैं छोटी थी, और छोटा होना कितना भला होता है...! और आज, जिन्दगी के इतने वर्ष गुजारने के बाद मैं भी सयानी, बड़ी हो गयी हूं, औरों की तरह बीच-बीच में कभी-कभी अपने-आपसे पूछती भी हूं—"आखिर कहां गये बचपन के वे दिन?" लेकिन अब भी शायद इस बात में

मैं औरों से कुछ अलग हूं कि मेरे अन्तरतम में आज भी बचपन का वह रहस्य कहीं न कहीं छिपा हुआ जरूर है, तभी तो कभी दुःख के सीमाहीन सागर में डूबते हुए अगर उन यीशु के सामने अपना दुःखड़ा रो दूं तो वे मेरा हाथ पकड़ कर हमेशा उबार लेते हैं। बचपन मे जैसे उनके साथ बैठ कर बतियाती थी वह सिलसिला तो कब का टूट गया, लेकिन सब पर अनुकम्पा बरसाने वाली वह दृष्टि आज भी मेरे साथ मूक वार्तालाप किया करती है। और यही वजह है कि भले ही मैं कई बार दुःख की नौका में चढ़ी, लेकिन हमेशा मेरे ध्रुवतारे ने दिशा दिखा, मेरी नाव को सुख के तट पर ला पहुंचाया।

लेकिन आज?...

फोन की घण्टी बजी। दूसरी तरफ की टूटती, सुबकती आवाज ने मुझे पत्थर की शिला बना दिया...।

"मां,... मां... तुम ठीक हो न मां, कुछ बोलो..." कहीं दूर से मेरे बेटे की आवाज सुनायी दी।

"ठीक हूं," यन्त्रवत् मेरे मुंह से निकला, लेकिन वे जानलेवा शब्द सारे वातावरण में घूम रहे थे, मैं उन शब्दों को ठीक से पकड़ नहीं पा रही थी—कैथी... सात साल की उसकी छोटी बेटी... मेरी पोती कैथी... एक सड़क-दुर्घटना में चली गयी...।

फोन का चोगा कब मेरे हाथ से छूट गया मुझे मालूम नहीं, मेरे चारों तरफ तो नाच रही थी हंसती, झूमती, गाती, फुदकती मेरी नन्हीं कैथी जिसे चलना तो आता ही नहीं था, आता था तो बस नाचना, नाच-नाच कर 'दादी, दादी' कह कर मुझसे लिपटना और लिपट-लिपट कर खूब चहकना।

लटकते हुए चोगे से "मां, मां कहां हो तुम, कुछ बोलो कृपया..." की आवाज से मैं कुछ सचेत हुई, चोगा कान से लगा कर जवाब दिया; बेटे और बहू दोनों की सुबक मेरे कानों में पड़ी—"अपना ख्याल रखना मां, क्रिया-कर्म के बाद हम तुरन्त तुम्हारे पास आयेंगे।"

क्रिया-कर्म, कैसा क्रिया-कर्म... मेरी समझ खत्म हो रही थी, दिमाग सुन्न पड़ गया था, आंखें सूख चुकी थीं और कान की भांय-भांय ने सारे घर में 'कैथी कैथी' का कोहराम मचा दिया था...।

निरुद्देश्य सारे घर में इधर से उधर भटक कर, चौके के फर्श पर

साबुन का पानी उंडेल, मैं पागलों की तरह फर्श रगड़ने लगी।

फोन की कर्कश घण्टी फिर से चीख उठी।

मेज-कुर्सी से टकराती, सामने रखी चीजों को लात मारती, जो बर्तन नजर आया उसे पटकती, मैं फोन की तरफ बढ़ी। बेटे की आवाज सुनायी दी—"मां, मां... तुम अकेले मत रहना, हमारे वहां पहुंचने तक किसी को अपने पास बुला लेना।"

"ठीक है बेटा, मैं किसी के पास चली जाऊंगी" कह कर मैंने चोगे को धीरे से फोन पर रख दिया।

मेरे सामने की धुन्ध छंटने लगी, मेरे अन्दर का सन्नाटा कम होने लगा क्योंकि मेरे बेटे ने मुझे अपने ऊपर काबू पाने का वह परिचित राज बता दिया था जिसे अपने दुःख में डूबी, मैं भूले जा रही थी। इधर-उधर पट के बर्तनों को समेटती मैं सीधी उस कमरे में चली गयी जहां मेरे यीशु की वह भुवनमोहिनी मूर्ति थी जो मुझसे पुकार-पुकार कर पूछ रही थी, "इतनी देर क्यों लगा दी मेरी बच्ची? मैं कब से बांहें फैलाये तेरा इन्तजार कर रहा था।"

मेरी फटी-फटी, सूखी आंखों में सैलाब उतर आया, मैं अपने यीशु के चरणों में सिर दबा कर रोती रही, रोती रही। अन्दर का कोहरा जब छंटा तो नजरें उठा कर यीशु की तरफ देखा और ताकती ही रह गयी... कमरे के अन्दर आयी धूप ने उनके चेहरे को सचमुच सजीव बना दिया था, न केवल होंठ मुस्कुरा रहे थे बल्कि उनकी आंखें मुझसे कह रही थीं —"देखो, देखो, जरा इस कमरे में नजर दौड़ाओ।" और मैंने अपने चारों ओर, ऊपर-नीचे, सभी जगह सुनहरे बालों को लहराती, हंसती, चहचहाती, 'दादी' 'दादी' कहती, इधर-से-उधर खुशी से झूमती अपनी पोती कैथी को देखा—हूबहू वही कैथी, बस उसके पंख लग गये थे, मुझे यह नजारा दिखा, वह यीशु के हृदय में मुझसे यह कहते-कहते समा गयी—"दादी, मैं यहीं हूं, यीशु के हृदय में, तुम सबके हृदय में।"

मैं अवाक्, दत्तचित्त रह गयी—करीब ६५ साल पहले की वह घटना चलचित्र की तरह मेरी आंखों के सामने आने लगी जब मैं कैथी के बराबर की बच्ची रही होऊंगी, जब मेरी हर फरियाद की सुनवाई यीशु के दरबार में हुआ करती थी, लेकिन उस रोज भी तो मैं अपने अथाह दुःख में डूबी

यीशु को इसी तरह भूले ही तो जा रही थी...

औरों के लिए वह सुनहरी दोपहर थी, लेकिन मुझे तो अपना घर, खेत, नदी का तट सभी कालिमा से पुते दीख रहे थे—मेरा अपना कुत्ता, मेरा दोस्त, मेरा संगी नहीं रहा था। आज सवेरे गाड़ी की चपेट में आकर उसने दम तोड़ दिया था। अब वह एक बक्से में बन्द हमारे खेत की धरती के नीचे हमेशा के लिए सो रहा है, उस बक्से पर मैंने लिखा है—"ट्रिबली, मेरा अपना प्यारा दोस्त।" वह सात साल का था, मैं सात की हूं। हम दोनों सारे जीवन साथ-साथ रहे।

जब मेरी मां गुजरीं तब मैं इतनी छोटी थी कि अभाव का मतलब नहीं जानती थी, इसलिए आज यह अजीब, भयंकर दु:ख मेरे लिए असह्य हो उठा; रो-धो कर निकाल बहाने की जगह मैंने उसे अपने हृदय में बन्द कर दिया। फल यह निकला कि ट्रिबली को दफनाने के साथ-साथ दिल पर पत्थर रखने का भाव महसूस होने लगा। पापा मेरे करीब आये, मैंने मुंह फेर लिया, मुझे दुलारने-पुचकारने की कोशिश की, मैं उनके हाथ झटक कर दूर छिटक गयी। आण्टी मारिया ने खाने के लिए बुलाया, मैंने कोई जवाब नहीं दिया, मैं बस घुटनों में सिर डाले, अपने पलंग पर गुमसुम बैठी थी, कमरे में अब कोई नहीं था, सिवाय मेरे ट्रिबली की परछाइयों के, जो मुझे चारों तरफ से घेरे हुए थीं।

थोड़ी देर बाद कमरे में पापा की आवाज सुनायी दी—"मेरे ख्याल से आज पतंग उड़ाने के लिए अच्छा मौसम है बेटे, तुम्हारा क्या ख्याल है हैरी?" मैं उनकी बेटी थी, लेकिन वे हमेशा मुझे हैरी कह कर पुकारते थे, क्योंकि मेरा कोई भाई न था।

मैं अपने घुटनों में और भी सिमट गयी। मैंने उन्हें चौके में जाकर, आण्टी मारिया से कहते सुना—"मैं हैरी के लिए एक बड़ी पतंग बनाऊंगा। क्या तुम्हारे पास कोई पुरानी चादर है जिसे फाड़ कर इस्तेमाल कर सकूं?"

"लेकिन भूल गये क्या? आज तो तुम्हें बाजार से सौदा लाना था..."

"अरे, मारो गोली सौदे को, कल होता रहेगा। आज तो मैं पतंग ही बनाऊंगा।" पापा की आवाज सुनायी दी। मेरे कान जरा खड़े हुए, लेकिन फिर मैंने अपने-आपको समेट लिया।

कुछ मिनटों में हथौड़ी की आवाज मेरे कानों में पड़ने लगी। 'बड़ी पतंग बनायेंगे', पापा ने कहा था। 'कितनी बड़ी?' मैं सोचने लगी। मैंने

बाहर बगीचे में झांकने के लिए अपना सिर उठाया नहीं कि मेरे अन्दर से आवाज उठी—

"ट्रिबली मर गया, अब वह कभी मेरे साथ शाम को बगीचे में नहीं खेलेगा, विद्यालय से लौटने पर लपक कर कभी मुझ पर नहीं चढ़ेगा, अब मैं उसे कभी न सहला पाऊंगी, कभी न देख पाऊंगी...।"

मैंने अपना सिर फिर घुटनों में छिपा लिया।

हथौड़ी की आवाजें बन्द हो गयी थीं। "अब पापा क्या कर रहे होंगे? अगर दो मिनट ट्रिबली के बारे में न सोचूं तो..." मैंने अपना सिर उठा कर बाहर झांका—पापा ने दो खपच्चियों को लेकर बड़ी-सी पतंग का खांचा तैयार कर लिया था। अब वे उन्हें बांधने में लगे थे, लेकिन गांठ लग नहीं पा रही थी। जब कभी वे गांठ बांधते, मैं अपनी उंगली बीच में रखती, ताकि गांठ फिसले नहीं, आज उनके पास कोई नहीं था।

बाहर निकल कर मैंने उंगली बीच में रख कर पापा की मदद की।

पापा मुस्कुरा उठे, मेरे सिर को थपथपाते हुए बोले—"बेटा, खूब बड़ी पतंग बना रहा हूं आज।"

न चाहते हुए भी मैं मुस्कुरा दी।

सच, आज तक पापा ने इत्ती बड़ी पतंग कभी न बनायी थी। उनके जित्ती लग रही थी, और कितनी सुन्दर! मेरे पापा सचमुच महान् हैं!!

मैं और पापा पतंग उठाये अपने उसी छोटे-से टीले पर चढ़ गये जहां से हमेशा उड़ाया करते थे। हवा मेरे बालों के साथ खेल रही थी, और मेरी स्कर्ट बार-बार उड़ रही थी।

"मैं दौड़ता हूं बेटे, तुम पतंग पकड़ कर ऊपर छोड़ने की कोशिश करना। देखें, पहली बार में हम कर पाते हैं या नहीं।" पापा बोले।

मैंने पतंग पकड़ी, वे दौड़े। "छोड़ दो" वे चिल्लाये। मैंने छोड़ तो दी, लेकिन देर से। पतंग पंखकटी चिड़िया की तरह जमीन पर आ गिरी।

"तुम छोटी हो बेटा, लाओ, मुझे पतंग दो और तुम दौड़ो।" कह कर पापा ने पतंग ले ली।

इस बार मैं दौड़ी, गिरी, संभली, फिर दौड़ी। और पतंग हवा से बातें करने लगी, ऊपर, ऊपर, ऊपर उठती चली गयी, नीले आसमान में सफेद पक्षी की तरह उड़ने लगी।

पापा ने मेरी ओर मुस्कुरा कर देखा—"बेटा, ऊपर फरिश्तों के पास कोई सन्देश भेजना चाहती हो क्या?" उन्होंने जेब से चौकोर कागज का एक टुकड़ा निकाला जिसके बीच में एक छेद था, वे बोले, "इस कागज को डोर के अन्दर डाल कर ऊपर सरका दो। हमारे पास यहां पेंसिल तो है नहीं, इसलिए अपना सन्देश मन ही मन सोच लेना।"

मैंने वह कागज डोर पर जितना हो सका उतनी ऊपर चढ़ा दिया। पापा ने उसे और ऊपर कर दिया, कुछ ही देर में हवा ने उसे ऊपर, और ऊपर आकाश के फरिश्तों की ओर उठा दिया।

"मेरी इच्छा पूरी होगी न पापा?" मैं खुशी से चहक उठी।

पापा हंसे—"क्या मांगा बेटा तुमने?"

"वह ठीक मांगना नहीं था, वह एक प्रार्थना थी पापा।" मैंने धीरे से कहा।

पापा तुरन्त बोल उठे—"कैसी प्रार्थना?"

मैंने सिर झुका कर कहा—"ट्रिबली के लिए प्रार्थना, कि वह लौट आये, हमारे साथ पहले की तरह रहने लगे।"

पापा मुझे एकटक देखते रहे फिर पतंग को वैसे ही थामे, घुटना टेक मेरे चेहरे के एकदम करीब आ गये। मैं अपने चेहरे को उनकी आंखों में देख रही थी, दो छोटे-छोटे शीशों में दो मैं!

"हैरी, मेरी बच्ची, यह असम्भव है। एक यही चीज है जिसकी हम मांग नहीं कर सकते—जो भगवान् के पास चला गया उसे वापिस नहीं बुला सकते।"

"तो मैं कोई सन्देश नहीं भेजना चाहती," मैं चीख पड़ी, पापा के कन्धे पर सिर रख कर रो-रो कर सुबकने लगी—"तब फिर मैं और कुछ नहीं मांगना चाहती... कुछ नहीं मांगना चाहती...।"

"सचमुच कुछ नहीं मांगना चाहती बेटा?" पतंग की डोर छोड़, पापा ने मुझे अपनी दोनों बांहों में भरते हुए कहा—"क्या तुम भगवान् से यह नहीं मांगना चाहोगी कि तुम्हारे दिल में ट्रिबली की **यादें** हमेशा बनी रहें और तुम यह सोच कर हमेशा खुश रहोगी कि तुमने कितने मधुर साल उसके साथ बिताये।"

पापा के इन शब्दों से मुझे एकदम लगा कि ट्रिबली, मेरा प्यारा कुत्ता

खुशी-खुशी दौड़ता हुआ आकर मेरे अन्दर समा गया। मेरे दिल पर रखा सारा बोझ आंसुओं की धार बन कर पापा के कन्धों पर बह गया। पापा ने मुझे वह चीज दे दी थी जिसे कोई भी मुझसे कभी नहीं छीन सकता —ट्रिबली की मधुर यादें। सिर उठा कर जो पापा की आंखों में दुबारा झांका तो क्या देखा मैंने??? अब वहां मेरी नहीं, मेरे उन यीशु की मूरत झलक रही थी जिनके सामने मेरी हर फरियाद का पुलिन्दा खुलता था!

मैं लपकी घर की तरफ। पापा 'बेटा, बेटा' करते रह गये और मैं उन्हें हाथ हिला कर 'पापा, बहुत, बहुत शुक्रिया' कहती हुई दौड़ गयी। मुझे तो यीशु से मिलने की जल्दी थी। उन्हें शुक्रिया अदा करना था।

मैं उन्हें भूल गयी तो मुझसे मिलने वे मेरे पापा की आंखों में उतर आये!!

उस रोज, जब मैं सात साल की बच्ची थी, यीशु ने मेरे कानों में जीवन का सबसे गहरा मन्त्र फूंका था—"आदमी की जिन्दगी में जीवन-मृत्यु, यानी सुख-दुःख का आना लगा रहेगा, दुःख से जब हृदय लबालब भर जाये तो मेरे सामने आकर उसे खाली कर दो ताकि मैं उसमें सुख और शान्ति उंडेल सकूं।"

बरसों पुरानी उस फ़िल्म को देख, मैं वर्तमान में लौट आयी। यीशु के चरण चूम मैंने उनसे कहा—"मेरे बच्चे आ रहे हैं यीशु। मैं उन्हें यहां तुम्हारे सुपुर्द कर दूंगी। तुम्हीं उन्हें राहत पहुंचा कर अपने हृदय से लगा लेना।"

वे स्वीकृति में हलका-सा मुस्कुरा दिये।

'पुरोधा', मार्च २००६ से —वन्दना

भूल-सुधार

अत्यन्त खेद है कि मई २०१६ की अग्निशिखा की विषय-सूची में पाठकों को कई भूलों का सामना करना पड़ेगा। ये सब कैसे छूटीं ... क्षमा-याचना के प्रार्थी हैं बस हम!

साथ ही विषय-सूची में पृष्ठ पांच का शीर्षक 'संसिद्ध करो मां' होना चाहिये था, 'अजन्मी महिमा' नहीं।

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st June 2016
Rs. 15.00 (Monthly)
RNI No.18135/70
Registered: SSP/PY/47/2015-2017
WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17

A school by The Vatika Group vatika

Holistic

"MatriKiran believes in holistic development and Yoga, Clay Modelling, Indian Music and Ballet are part of its curriculum. The need for extra classes does not arise at all."

Upasana Mahtani Luthra
Mother of Nanak, Grade 4 and Nritu Luthra, Grade 6

Nature Friendly

"Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy. Class rooms in MatriKiran are nature friendly, spacious, well ventilated and they open out to green spaces... in communion with nature."

Dr Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 1

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2016-17

MatriKiran

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 8

www.matrikiran.in | +91-124-4938200, +91-9650690222
Junior School: W Block, Sec. 49, Sohna Rd, Gurgaon • **Senior School**: Sec. 83, Vatika India Next, Gurgaon